आत्म-समर्पण

(पौराणिक कहानियाँ)

बालचन्द्र जैन 'विशारद' एम० ए० (फाइनल),
साहित्यशास्त्री

पुस्तक मिलने का पता—
जैन साहित्य सदन
भदैनीघाट, काशी

प्रकाशक—

हिन्दी प्रकाशन भवन

बाँस-फाटक, बनारस।

प्रथम संस्करण,

१५ अगस्त १९४७

मूल्य १॥)

मुद्रक—

मेवालाल गुप्त,

बम्बई प्रिंटिंग काटेज,

बाँसफाटक,

[illegible]।

समर्पण

जो अचानक मेरे जीवन-क्षेत्र मे आई—

जिसने मुझे नूतन विचार और नवीन ज्योति दी—

जिसकी प्रेरणा ने मेरे आलसी जीवन मे उत्साह का सञ्चार किया—

जिसका आग्रह इस पुस्तक के प्रकाशन में कारण बना—

और जिसने इसकी प्रेसकापी की रक्षा की—

उसी प्रिय बहिन

मीरादासी को

उसके भाई की अकिञ्चन भेंट।

लेखक

दो शब्द

'आत्म-समर्पण' का प्रथम संस्करण पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हमें बड़ा हर्ष होता है। इसमें पन्द्रह कहानियों का संग्रह है। ये कहानियाँ जैन पुराणों के आधार पर लिखी गई हैं, इसलिये इन्हें पौराणिक कहानियाँ कहना अधिक उपयुक्त होगा। यद्यपि इनमें मूलकथा को हानि नहीं पहुँचाई गई है फिर भी लेखक महोदय साहित्यिकतत्त्व को भूल नहीं सके हैं।

पुस्तक के लेखक श्रीयुत बालचन्द्रजी बी० ए० स्याद्वाद विद्यालय काशी के प्रधान स्नातकों में से एक हैं। आप की रुचि कथा साहित्य की ओर सदा से रही है और बचपन से ही आप कहानियाँ लिखते रहे हैं। जिन कहानियों का इस पुस्तक में सँकलन किया गया है उनका सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्व है। इनसे संयम, त्याग, क्षमा आदि की पर्याप्त शिक्षा मिलती है।

आधुनिक जैनेतर साहित्य में पुराने कथानको को लेकर अनेक नवीन लेखकों ने नए ढंग से कहानियों की रचना की है किन्तु जैन समाज मे आज तक किसी साहित्यिक ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। श्री बालचन्द्रजी ही प्रथम लेखक हैं जिन्होंने अपनी कलम उठाकर हिन्दी जैन साहित्य की इस कमी की पूर्ति की है।

कहानियो का सांस्कृतिक दृष्टि से तो महत्त्व है ही, साहित्यिक दृष्टि से भी ये अत्यन्त महत्त्वशील हैं। इनकी भाषा परिमार्जित एवं भावानुवर्तिनी है। शैली सरल और सरस है। गभीर से गभीर सिद्धान्तों को भी सुबोधगम्य बना दिया गया है। यद्यपि जैनियों के लिये इन कहानियों का

विषय सुपरिचित है तो भी कहानी को प्रारंभ करने के बाद उसे बीच में छोड़ने को जी नहीं चाहता।

कहानियों को लिखते समय लेखक ने जैन तत्त्व-ज्ञान को प्रतिपादन करने का पर्याप्त ध्यान रखा है। उदाहरणार्थ—

(१) "मनुष्यत्व देवत्व से उच्च है महाराज" परिव्राजक ने शान्त उत्तर दिया। पृ० ६८

(२) "आत्मा अमर और अनश्वर है गुरुदेव, कोई शक्ति उसे नष्ट नहीं कर सकती" अकलंक ने विनम्र उत्तर दिया। पृ० ७५

(३) "नरक और निगोद में मैंने इससे भी अधिक त्रास सहा है महाराज, उसकी तुलना में इसकी क्या गिनती ?" विद्युच्चर ने सरल वाणी में उत्तर दिया। पृ० ९०

(४) "पर होनहार तो हमारी ही कृति है, आत्मा की अनंत शक्ति को क्यों भूल जाते हो भइया"। पृ० ७७

लिखने का यह अभिप्राय है कि यह संग्रह सभी दृष्टियों से उपादेय है। इसकी महत्ता का सब से बड़ा प्रमाण तो यह है कि भारत कला भवन काशी के क्यूरेटर और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के भूतपूर्व मंत्री सुप्रसिद्ध साहित्यिक श्री राय कृष्णदासजी ने इसका प्राक्कथन लिखा है।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर हमारी इच्छा इन कहानियों को प्रकाश में लाने की हुई। हमें विश्वास है कि जनता इनसे सांस्कृतिक साहित्यिक और बौद्धिक लाभ उठाएगी।

भदैनीघाट, बनारस
तिलक पुण्य दिवस ४७। } फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

अपनी बात

कविता और कहानी लिखने का शौक मुझे बचपन से ही रहा है। पर मैं जो कुछ भी लिखता, स्वान्तःसुखाय ही। उसमें कला थी या नहीं, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता क्योंकि मेरी प्रायः सभी रचनाएँ नष्ट हो चुकी हैं। मेरे बन्धु श्री धरमदास मुझे बार बार उलाहना देते थे कि तुम अपनी रचनाएँ पत्रों में प्रकाशित क्यों नहीं करते पर न जाने क्यो उस ओर मेरी रुचि न थी।

प्रस्तुत सग्रह में संग्रहीत कहानियों में से एकाध को छोड़ कर बाकी सभी कहानियाँ लिखे जाने का श्रेय काशी की भारतीय ज्ञानपीठ के व्य-वस्थापक पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य को है। उनकी प्रेरणा और कहानियों को प्रकाशित करने के वादे के अनुसार ही मैंने इन्हें लिखना प्रारम्भ किया था। कहानियों के लिखे जाने का शुद्ध प्रयोजन थोड़े से चाँदी के टुकड़ों की प्राप्त्याशा थी जो मेरे अध्ययन में सहायक बन जाते। पर हाय रे अभाग! तू यहाँ भी मचल पड़ा, पूरे वर्ष पुस्तक की प्रेसकापी उक्त ज्ञानपीठ में पड़ी रही पर अन्त में मुझे टके सा जबाब मिला।

खैर, जब ज्ञानपीठ ने पुस्तक प्रकाशित करने से इन्कार कर दिया तो मुझे जरा सा भी रञ्ज नहीं हुआ। मेरी प्रकृति सदा से सहिष्णु रही है, हाँ, मुझे इस बात का दु.ख अवश्य था कि पूरे वर्षभर व्यर्थ ही मुझे आशा पर क्यो टाँग रखा गया।

अब मुझे पुस्तक और पुस्तक-प्रकाशन दोनों में कोई दिलचस्पी न रही, मैंने उसे नष्ट कर डालने का निश्चय किया। पर पुस्तक के नक्षत्र कुछ अच्छे थे, इसे प्रकाश में आना था और आ गई। खैर तो यह रही कि मैंने बहिन मीरादासी से इसकी चर्चा कर दी थी और उसके अनुरोध ने इसकी रक्षा कर ली, नहीं तो यह किसी कूड़ाघर की ही शोभा बढ़ाती!

कहानियों के बारे में मैं कुछ न कहूँगा। अपने गुरु पं० पद्मनारायणजी आचार्य की आज्ञा मान कर मैं मौन ही हूँ। कथानक वही पुराने हैं पर उन्हें ठीक तरह से समझने का प्रयत्न किया गया है।

श्रद्धेय राय कृष्णदासजी ने अत्यधिक व्यस्त रहने पर भी पुस्तक का प्राक्कथन लिख देने का कष्ट किया, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय
काशी, तिलक पुण्य-दिवस '४७।

लेखक

श्रीः

प्राक्कथन

अपने प्राचीन साहित्य में ऐसे कितने ही रत्न पड़े हैं जिनकी ओर हमने बहुत कम ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ, पौराणिक कथाओं में जैन वाग्मय का कई दृष्टियों से विशिष्ट स्थान है। ये आख्यान जिस काल में लिखे गए है, उस समय के लेखकों में एक विशेष प्रवृत्ति पाई जाती है—वे तत्कालीन ज्ञान को सारा का सारा लेखबद्ध करने में प्रवृत्त थे।

इतना ही नहीं, इस साहित्य में अनेक 'काव्येर उपेक्षित–उपेक्षिता' मिलेंगे, जिनकी ओर लेखक समाज ने कितना ध्यान दिया है?

हर्ष का विषय है कि नई पीढ़ी इस ओर ध्यान दे रही है—श्री बालचन्द्र ने एक नई दिशा में सफलतापूर्वक पादन्यास किया है।

साथ ही, लेखक ने जैन-दर्शन को सूक्ष्मदृष्टि से समझा है जिसका आधुनिक दृष्टिकोण से ठीक ठीक प्रतिपादन भी हो सका है। उदाहरणार्थ—

(१) "नारी की क्रियाएँ दम्भ नहीं होतीं स्वामिन्, वह सच्चे हृदय से कार्य करती है। विलास में पली नारी संयम और साधना की महत्ता अच्छी तरह समझती है।" पृ० १२।

(२) "मैं तो आपका प्रतिनिधि बन कर प्रजा की सेवा कर रहा हूँ। मेरा कुछ भी नहीं है, मैं अकिञ्चन हूँ।" चक्रवर्ती पुनः योगी के चरणों में गिर पड़ा। पृ० १८।

(३) " .. साधु वह नहीं जो सासारिक कष्टों से भयमीत हो जंगल की एकान्त कन्दराओं में तप के बहाने आ छिपता हो...... ।" पृ० ३२ ।

(४)......"धर्म और समाज की विपत्ति-निवारणार्थ अपने वैयक्तिक स्वार्थ को तिलाञ्जलि दें ।.. " "सच्चा वात्सल्य स्वार्थ की अपेक्षा नहीं करता । माता अपने पुत्र के रक्षार्थ प्राणों का मोह नहीं करती ।" पृ० ४२ ।

इसी प्रकार इन धार्मिक कहानियों में कथाकार का सरसपूर्ण व्यक्तित्व भी झाँक पड़ता है यथा—

'नववधू प्राची ने सम्हलते हाथों से रक्तावगुठन को किञ्चित् हटाकर रसीली कनखियों से प्रिय को देखने का प्रयत्न किया । उसे भान भी न हुआ कि उसकी इस असावधानी में उसका अवगुण्ठन सरक गया है और सुकुमार बालसूर्य सा उसका रमणीय मुखड़ा ..असख्य आँखों को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है ।' पृ० २६ ।

'चपला विद्युत् क्षण भर के लिए चमक कर अन्धकार की सघनता और बढ़ा देती थी ।' पृ० ३२ ।

'नई कहानियाँ' नामक कहानी-सग्रह सम्पादित करते मैंने आशा की थी कि हमारी नई पौध मे होनहार लेखक पैदा होंगे । मैं समझता हूँ वह व्यर्थ नहीं थी ।

शान्ति-कुटीर,
बनारस, जूलाई ३०, '४७

कृष्णदास

अनुक्रमणिका

आत्म-समर्पण

आत्म-समर्पण

राजा उग्रसेन की लाड़ली राजुल अपने भावी पति नेमिकुमार के चिन्तन मे रत थी। अपने पति का कल्पित सुन्दर और सहृदय चित्र देखकर नारी के मुख पर जो प्रसन्नता होती है, राजुल उसीका अनुभव कर रही थी। नारीसुलभ लज्जा यद्यपि उसके आन्तरिक भावों के प्रदर्शन मे बाधक थी फिर भी उसका अनुराग छलक रहा था। अनेक चेष्टा करने पर भी वह उसे छिपा न सकी। औत्सुक्य, उमंग और नवीन अभिलाषाओं की त्रिवेणी में स्नात उसका शरीर पुलकित हो रहा था।

दूसरी ओर सहेलियों के बीच ठठोलियां चल रहीं थीं। बेचारी राजुल एक ओर और शेष मंडली दूसरी ओर। कोई राजुल के अनुराग की कथा कह कर उसे रिझाने की चेष्टा करती तो कोई नेमिकुमार के शौर्य और पराक्रम की गाथाएँ गाकर राजुल का हृदय नापने का प्रयत्न करती। भावी पति की गौरव-गाथा सुन सुन राजुल का मन खिल उठता था।

यह क्रम चल ही रहा था कि अचानक हांफते हांफते एक दासी आकर चिल्लाई "राजकुमारी..."। शब्द उसके ओठों से निकलते ही न थे, वह विकट रूप से कांप रही थी और आँसुओं की धार उसकी दोनो आँखो से बह रही थी।

"चन्दन !" राजकुमारी ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा क्यों ? क्या बात हुई ?" उत्सुकता से उसने प्रश्न किया।

सहेलियों की मंडली चन्दन को घेर कर खड़ी हो गई। सभी स्तब्ध थीं, आश्चर्यचकित थीं। चन्दन जो दुस्समाचार लाई

"इससे लाभ क्या ? उसे जाने दो बेटी, अनेक पराक्रमी राजकुमार आज भी तुम्हारी अभिलाषा करते है" पिताने फुसलाना चाहा।

"आर्यनारी पतिव्रता होती है पिताजी ! हृदय जिसकी उपासना करता है वही आर्यनारी का पति है। मैंने नेमिकुमार के चरणो मे अपना हृदय अर्पित कर दिया है, अब शरीर किसी अन्य को कैसे समर्पित किया जा सकता है। वह तो व्यभिचार होगा न ?" राजुल ने उत्तर दिया।

"पर नेमिकुमार तो विरक्त हो गए हैं, वे तुम्हें स्वीकार कैसे करेंगे ?" पिता ने आगे कहा।

"मैं तो विरक्त नहीं हुई। दो जीवन के पारस्परिक सहयोग का नाम ही तो विवाह है पिताजी। मेरी सम्मति के बिना इस सहयोग की डोर को काट देनेवाले से मैं पूछूँगी कि तुम्हें क्या अधिकार है मेरे जीवन को धूलि में मिला देने का, मेरी आशाओं पर पानी फेर देने का" राजुल आवेश मे बोल रही थी

"बेटी तुम भूलती हो, तीर्थंकर नेमिका जन्म ही लोककल्याण के लिए हुआ है" पिता ने उसे समझाया।

"पर मैं इसमे बाधक न होती" राजुल का तर्क था।

"विवाह बंधन में फँसकर नेमिकुमार लोककल्याण में असमर्थ हो जाते बेटी" पिता ने आगे कहा।

"यह उनकी दुर्बलता होती। नारी नर की सद्भावनाओं को जागृत करती है, उन्हें उत्साहित करती है। यदि इतने पर भी कोई अपनी हानि कर बैठे तो इसमे दोष किसका" राजुल का भावावेश अभी शान्त न हुआ था।

"ठीक कहती हो बेटी पर अब संभव नहीं" पिता ने पराजय मानकर भी जीतने की चेष्टा की।

थी, कहने का उसे साहस ही न होता था, वह अपने को असहाय अनुभव कर रही थी। सहेलियाँ समाचार सुनने को आतुर थीं। नाना प्रकार के प्रश्न चन्दन से पूछे जाने लगे पर वह कुछ न बोली। बस फूट फूट कर रो पड़ी।

"अरे कुछ कह भी तो" राजकुमारी ने उसे ढाढ़स बंधाते हुए कहा।

"नेमिकुमार विरक्त हो गए राजकुमारी, विवाहोत्सव रुक गया" चन्दन बड़े कष्ट से इतना कह सकी।

"क्यों ?" राजकुमारी ने साधारण प्रश्न किया।

"बंधन मे पड़े पशुओं को देखकर उन्हें कर्मबधन की स्मृति जाग उठी। उनने लोककल्याण का व्रत ले लिया" चन्दन ने उत्तर दिया।

राजकुमारी पर वज्रपात हुआ। इस दुस्समाचार से त्रस्त वह मूर्च्छित हो भूमि पर गिरने को ही थी कि सहेलियों ने सम्हाल लिया।

× × ×

"मुझे आज्ञा दीजिए पिताजी" राजकुमारी राजुल ने महाराज उग्रसेन के चरणों मे गिरकर प्रार्थना की।

"तुम उसे कहां खोजोगी, बेटी" पिताने दुःखभरी सांस छोड़ते हुए कहा।

"बनों मे, पर्वतो में, कन्दराओ मे, जहां कहीं भी वे होंगे" राजुल ने दृढ़ता से उत्तर दिया।

"मार्ग दुर्गम है राजुल" पिताने पुत्री की असमर्थता की ओर संकेत किया।

"पर मेरा निश्चय दृढ़ है" राजुल ने उत्तर दिया।

"इससे लाभ क्या ? उसे जाने दो बेटी, अनेक पराक्रमी राजकुमार आज भी तुम्हारी अभिलाषा करते है" पिताने फुसलाना चाहा।

"आर्यनारी पतिव्रता होती है पिताजी! हृदय जिसकी उपासना करता है वही आर्यनारी का पति है। मैंने नेमिकुमार के चरणों मे अपना हृदय अर्पित कर दिया है, अब शरीर किसी अन्य को कैसे समर्पित किया जा सकता है। वह तो व्यभिचार होगा न ?" राजुल ने उत्तर दिया।

"पर नेमिकुमार तो विरक्त हो गए हैं, वे तुम्हें स्वीकार कैसे करेंगे ?" पिता ने आगे कहा।

"मैं तो विरक्त नहीं हुई। दो जीवन के पारस्परिक सहयोग का नाम ही तो विवाह है पिताजी। मेरी सम्मति के बिना इस सहयोग की डोर को काट देनेवाले से मैं पूछूँगी कि तुम्हें क्या अधिकार है मेरे जीवन को धूलि मे मिला देने का, मेरी आशाओं पर पानी फेर देने का" राजुल आवेश मे बोल रही थी

"बेटी तुम भूलती हो, तीर्थंकर नेमिका जन्म ही लोककल्याण के लिए हुआ है" पिता ने उसे समझाया।

"पर मैं इसमें बाधक न होती" राजुल का तर्क था।

"विवाह बंधन मे फँसकर नेमिकुमार लोककल्याण में असमर्थ हो जाते बेटी" पिता ने आगे कहा।

"यह उनकी दुर्बलता होती। नारी नर की सद्भावनाओं को जागृत करती है, उन्हें उत्साहित करती है। यदि इतने पर भी कोई अपनी हानि कर बैठे तो इसमे दोष किसका" राजुल का भावावेश अभी शान्त न हुआ था।

"ठीक कहती हो बेटी पर अब सभव नहीं" पिता ने पराजय मानकर भी जीतने की चेष्टा की।

"क्यों नहीं ! मैं उन्हें अवश्य ही खोज लूँगी, उन्हें मुझे अपनाना ही पड़ेगा। पशुओं की पुकार सुननेवाला क्या आर्त विरहिणी की आन्तरिक वाणी न सुनेगा ? मैं उन्हें खोजूँगी पिताजी, मुझे आज्ञा दीजिए" राजुल पिता के गले से लिपट गई।

"तुम स्वतंत्र हो बेटी, मेरा आशीर्वाद लेती जाओ" पिता ने पुत्री को आशीर्वाद देकर विदा किया।

× × × ×

सघन वन और अगम पर्वत उसके दृढ़ निश्चय के आगे झुक गए थे, काँटे फूल बन गए थे और मार्ग उसे उत्साहित कर रहा था। "मैं तो अपने पिया को खोजूँगी" की ध्वनि वनों और पर्वतगुहाओं में गूँज रही थी। पवन भी उसी लय मे 'मैं तो अपने पिया को खोजूँगी' का स्वर दुहराता था। विरहिणी का विरह चारों ओर छा गया था।

आज वह उसे खोज रही थी जिस पर उसने अपने को अर्पित कर दिया था, प्रतिदान की आशा न करते हुए जिसे सर्वस्व भेंट कर दिया था, ममता, करुणा, वात्सल्य आदि सभी मानवी गुणों को जिस पर समर्पित कर दिया था। पर उस निर्मोही ने सब कुछ ठुकरा दिया, नारी के आत्मसमर्पण का उसने कोई मूल्य न आँका, अलभ्य सम्पत्ति पाकर भी वह उसे त्याग कर चला गया।

× × × ×

"स्वामिन् मैं आ पहुँची" विरक्त नेमिकुमार के चरणों में गिरकर राजुल ने प्रार्थना की।

"शुभे ! तुम कौन हो ?" शान्त स्वर मे नेमिकुमार ने प्रश्न किया।

"वही जिसकी रक्षा का भार आपने लिया था, मैं राजुल हूँ मेरे देवता" राजुल ने उत्तर दिया।

"राजुल ! तुम यहाँ !" आश्चर्य से देखा नेमिकुमार ने।

"तुम्हें खोजते खोजते आ पहुँची मेरे रक्षक, आर्य नारी की शरण उसका पति ही होता है" राजुल ने निवेदन किया।

"तुम भूल रही हो राजुल, मैं तुम्हारा पति नहीं, मैं किसी का कुछ नहीं। सांसारिक सम्बन्ध असत्य हैं देवि, मुझे क्षमा करो" नेमिकुमार बोले।

"मैंने तुम्हें हृदय सौंपा था, अब तुम्हें कैसे भूलूँ मेरे स्वामी" राजुल ने प्रार्थना की।

"भूलना होगा भद्रे ! सत्य की खोज करो" नेमिकुमार ने उत्तर दिया।

"असम्भव है नाथ। आप पुरुष हैं, स्वतन्त्र हैं, पर मैं स्त्री हूँ, अधूरी हूँ। मेरे तो आप ही सब कुछ हैं, मुझे शरण दीजिए" राजुल नेमिकुमार के चरणों में गिर पड़ी।

"तुम्हारा मोह तीव्र है राजुल, लौट जाओ।" नेमिकुमार ने कहा।

"यह तुम कहते हो, हाँ तुम कह सकते हो। मेरा हृदय तोड़ने वाले पुरुष, तुम्हारे ही मुख से ये बचन सम्भव हैं। पर मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकती" राजुल ने अपना निश्चय जता दिया।

"मैं विवश हूँ देवि, मैंने लोककल्याण का व्रत लिया है" नेमिकुमार ने अपनी विवशता बताई।

"वही व्रत मुझे भी दीजिए" आँचल पसार कर राजुल ने व्रतदीक्षा की याचना की।

"नारी !" नेमिकुमार ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा "क्या तुम सच कह रही हो ?" उन्हें विश्वास न हुआ।

"नारी की क्रियाएँ दम्भ नहीं होतीं स्वामिन्, वह सच्चे हृदय से कार्य करती है। विलास मे पली नारी सयम और साधना को महत्ता अच्छी तरह समझती है" राजुल रो रही थी" तुमने मुझे धोखा दिया, तुम लोककल्याण का व्रत लेकर स्वार्थी ही रहे। मेरी रक्षा का भार स्वीकार करके भी तुमने मेरी रक्षा से मुख मोड़ लिया, स्वयं तो संसार समुद्र तरने चल दिए पर मुझे इसी बीच पड़ा रहने दिया" राजुल फूट फूटकर रोने लगी।

"भद्रे ! तुम सच्ची नारी हो" नेमिकुमार ने प्रशान्त स्वर से कहा।

"पर तुमने नारी को नारी न समझा नाथ, उसे विलास कानन की रानी ही माना, अपनी साधना की बाधा माना। यह तुम्हारा भ्रम था। नारी का आत्मसमर्पण सुख और दुःख, महल और वन, विलास और विराग सर्वत्र एक सा है देव ! तुम मुझसे पूछते तो कि तुम इन सघन वनों में मेरा साथ दे सकोगी ? मैं उत्तर देती "अवश्य" राजुल शान्त स्वर में कह रही थी।

"तुम धन्य हो देवी", नेमिकुमार बोले।

"अब तो मैं स्वयं आ पहुँची नाथ, आपकी शरण ही संसार में मुझे अन्यतम वरदान है। मुझे स्वीकृत कीजिए, मैं आपकी शिष्या बनूँगी" हाथ जोड़कर राजुल ने प्रार्थना की।

"तुम दीक्षा के योग्य हो" नेमिकुमार ने हर्षपूर्वक राजुल को दीक्षित किया।

× × × ×

"अन्त में आपको अपनाना ही पड़ा नाथ, मेरा आत्म-समर्पण सफल ही हुआ" राजुल ने मुस्कुराते हुए कहा।

"हाँ देवी" नेमिकुमार ने उत्तर दिया।

"पर उपयुक्त अवसर यही था देव" राजुल ने उनके चरणों में मस्तक झुका दिया।

× × × ×

गिरनार के शिखर पर दो तपस्वी साधनारत थे। एक ओर निर्वस्त्र नेमिकुमार और दूसरी ओर श्वेतवस्त्रधारिणी आर्यिका राजुल।

साम्राज्य का मूल्य

षट्खंड पृथ्वी विजेता चक्रवर्ती भरत की सेना विजयी होकर अयोध्या वापिस लौट रही थी। वर्षों से मातृभूमि से बिछुड़े सैनिक दूरसे ही पुरी के दर्शन कर हर्षित हो रहे थे, नई नई उमंगें उनके श्रान्त शरीर में स्फूर्ति जगा रही थीं। हाथियों के झुंड मस्त चाल से बढ़े जा रहे थे और रथों की चरचराहट एवं अश्वों की ह्रेषा से वातावरण कोलाहलमय हो गया था।

सुदृढ़ रथ मे बैठा चक्रवर्ती अपनी अपार सेना और अतुल वैभव को देख कर मन ही मन हर्षित हो रहा था। समस्त पृथ्वी पर अपने शासन का दबदबा देख कर वह फूला नहीं समाता था। पर्वत सा धीर और समुद्र सा गंभीर भरत आज विभव पाकर चंचल हो उठा था, अपनी विजय घोषणा तीर्थंकर ऋषभदेव को सुनाने के लिए उसकी आतुरता बढ़ रही थी।

अचानक सेना की गति अवरुद्ध हो गई। विजय से मत्त सैनिक चिन्तित हो उठे, हस्तिसमूह शुंडादंड हिलाकर चिघाड़ने लगे और रथो के अश्व अपनी गरदन हिलाने लगे।

इस अकारण अवरोध से चक्रवर्ती का स्वप्न भंग हुआ। वायु लोक में विचरने वाले उसके मन को भूमि पर उतरना पड़ा और वह आशंकित हो उठा। सेना के अवरोध का कारण उसे अभी तक ज्ञात न हो सका था, समीपस्थ दास व रक्षक इससे सर्वथा अनभिज्ञ थे।

"चक्रवर्ती की जय हो" एक ओर से आकर त्रस्त सेनापति ने उसे चौंका दिया।

"सेना के अवरोध का कारण ?" चक्रवर्ती ने प्रश्न किया।

"विजयचक्र गतिरुद्ध है श्रीमान्" सेनापति ने नम्र उत्तर दिया।

"विजयचक्र !" चक्रवर्ती के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, वह स्तंभित हो गया। पृथ्वी के किसी भी कोने मे उसका चक्र अवरुद्ध नहीं हुआ फिर राजधानीप्रवेश के अवसर पर यह कैसी विचित्र घटना उपस्थित हो गई। चक्रवर्ती ज्यों ज्यो विचारता था, त्यों त्यों उसकी चिन्ता बढ़ती ही जाती थी। चक्र का गतिहीन होना उसके चक्रवर्ती होने मे शंका का द्योतक है।

"क्या मैं चक्रवर्ती नहीं हूँ ?" अकस्मात् भरत के मनमें संशय बढ़ा।

"पड़ाव डालदो" उसने आज्ञा दी। बातकी बात मे सेना ने पडाव डाल दिए, खीमो का एक नगर सा बस गया, हाथी और घोड़े वृक्षों से बाँध दिए गए।

× × × ×

मंत्रिपरिषद् का आह्वानन किया गया। गणक और सचिव उपस्थित हुए। सभी के मुख पर उदासी की छाया स्पष्ट दिखाई देती थी, चक्र की गति रुद्ध होने का कारण अभी तक किसी की समझ में न आया था। चक्रवर्ती अपने अनन्त वैभव और गर्व को चूर होते देख भय और क्रोध से तिलमिला रहा था। उसकी दृष्टि से ज्वाला निकल रही थी। गणक और सचिव सभी चुप बैठे थे, चक्रवर्ती बार बार चक्र के अवरोध का कारण पूछता था पर कोई उसका उत्तर न दे सका था। उसका चेहरा क्रमश. विकृत होता जा रहा था। उसे चैन न थी और हो भी कैसे, उसका चक्रवर्तित्व खतरे में था न !

"विजययात्रा पूरी नहीं हुई, सम्राट्" एक ओर से एक सचिव ने डरते डरते कहा ।

एक साथ ही सब की दृष्टि उसकी ओर घूम गई । विजय यात्रा कैसे पूरी नहीं हुई, यह जाननेको सभी उत्सुक थे, सबकी आँखों में कुतूहल था ।

सबने एक साथ प्रश्न किया "कैसे ?"

"क्षमा हो श्रीमन्" सचिव ने चक्रवर्ती की ओर मुँह करके कहा "बाहुबलि अब भी स्वतंत्र हैं" ।

"छोटा भाई बड़े भाई का विरोधी नहीं होता" चक्रवर्ती ने मंत्रणा की निस्सारता की ओर संकेत किया ।

"पर उन्हें चक्रवर्ती को चक्रवर्ती मानना चाहिए श्रीमान्, उन्हें आपकी आधीनता स्वीकार करनी पड़ेगी" सचिव ने अपनी सूझ पर गर्व प्रकट करते हुए उत्तर दिया ।

"ठीक है श्रीमान्" सबने समर्थन किया "नियमानुसार बाहुबलि को आपकी आधीनता स्वीकार करना ही चाहिए" ।

"अस्तु, दूत भेजने का प्रबंध किया जाए" प्रस्ताव पर स्वीकृति देते हुए चक्रवर्ती ने आज्ञा दी ।

"जो आज्ञा" कहकर सभा विसर्जित हुई ।

× × × ×

"दूत ! तुम्हारा सम्राट् अभी तृप्त नहीं हुआ" चर से भरत का सन्देश सुनकर बाहुबलि ने व्यंग्य किया ।

"उनकी विजय यात्रा समाप्त हो गई महाराज" चर ने उत्तर दिया ।

"पर उसका लोभ तो शान्त नहीं हुआ, मेरा छोटा सा राज्य भी हड़पना चाहता है" बाहुबलि ने स्पष्ट किया ।

"यह लोभ कैसे महाराज ! वे चक्रवर्ती हैं। उन्होंने विश्व-विजय अवश्य की है पर किसी प्रान्त को लूटा नहीं है" चरने उत्तर दिया।

"लोभ दो प्रकार का होता है दूत ! तुम्हारा सम्राट् धन की अपेक्षा यश का लोभी अधिक मालूम होता है। दूसरों के स्वाभिमान और मर्यादा को कुचल कर अपने यश का महल खड़ा करना चाहता है; पर यह संभव नहीं है। वह महल गिरेगा और शीघ्र गिरेगा" बाहुबलि आवेश में बोले।

"आप चक्रवर्ती का अपमान कर रहे हैं महाराज" दूत ने विरोध किया।

"चुप रहो दूत !" बाहुबलि बोले "तुम उसे चक्रवर्ती कह सकते हो। कहो, पर इससे पहिले वह मनुष्य है। एक मनुष्यको दूसरे मनुष्य का अपमान करने का कोई अधिकार नहीं।"

"चक्रवर्ती विश्वविजेता हैं श्रीमान्" दूत ने निवेदन किया।

"बस यही गर्व है न उसे ? तीर्थंकर ऋषभदेव ने हम दोनों को समान रूप में पृथ्वी देकर प्रजा पोषण के लिए अवसर दिया था। मैं उतने में ही संतुष्ट रहा और भरत ने अपनी साम्राज्यलिप्सा को विश्वविजय का रूप दे दिया, अपने को चक्रवर्ती सम्राट् घोषित किया। बस यही अन्तर है न हम दोनों में ? वह महाराजाधिराज है और मैं एक मामूली राजा ? दूत ! अपने सम्राट् से जाकर कहो "बाहुबलि इस भेद को नहीं मानता" बाहुबलि ने अपना निश्चय सुना दिया।

"एक और निवेदन करना चाहता हूँ महाराज" चरने विनम्र होकर प्रार्थना की।

"एक नहीं अनेक, पर याद रखो हम सब मनुष्य हैं" बाहुबलि ने शान्त स्वर में कहा।

"सम्राट् आपके ज्येष्ठ भ्राता हैं, इसलिये भी आपको उनका सम्मान करना चाहिए" दूत ने विनत होकर कहा।

"ठीक कहते हो, मैं उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखता हूँ पर विनय और दासता में अन्तर है। यह विनय नहीं, पराधीनता होगी। मैं अपना स्वाभिमान भाई भरत को सौंप सकता हूँ सम्राट् भरत को नहीं" बाहुबलि ने उत्तर दिया।

बाहुबलि के इस उत्तर के सन्मुख किसी तर्क और उपाय के अभाव में दूत सिर नीचा किए चुप हो रहा।

"मुझे क्या आज्ञा है महाराज" अन्त मे उसने प्रश्न किया। "जाओ और अपने सम्राट् से कहो, बाहुबलि स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र रहना चाहता है। वह भाई की पूजा करता है पर सम्राट् का तिरस्कार करता है" बाहुबलि ने उत्तर दिया।

"जो आज्ञा" दूत चलने लगा।

"और यह भी कह देना कि अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए बाहुबलि किसी से भी युद्ध करने को सन्नद्ध है" बाहुबलि ने चरको आदेश दिया।

× × × ×

नगरी का बहिर्प्रान्त आज रणभूमि बन गया था। चक्रवर्ती भरत की अपार सेना के विरुद्ध महाबली बाहुबलि अपनी विश्वस्त सेना लिए हुए डटा था। विजय और पराजय की उसे चिन्ता न थी, पर वह अपना स्वाभिमान कभी नहीं बेच सकता था, अपना अधिकार नहीं त्याग सकता था। वह स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र रहेगा, दुनियाँ की सारी शक्ति के विरोध में भी

वह अपने इस अधिकार की रक्षा करेगा। उसकी सेना में उमंग थी, उत्साह था पर भरत की सेना में अनुत्साह छाया हुआ था। वर्षों युद्ध करते करते भरत के सैनिक थक चुके थे, वे युद्ध की विभीषिका के दर्शन कर चुके थे।

इस युद्ध की अनेक विशेषताएँ थीं। दो भाइयो का युद्ध दर्शकों के लिए विशेष आकर्षण की चीज बन गया था। आकाश मार्ग में भी सुर असुर विद्याधर उसे देखने उपस्थित हुए थे।

डंका बजने ही वाला था, अपार जनध्वंस प्रारम्भ होने को ही था कि अचानक दोनों दलों के युद्ध सञ्चालकों के मन में एक सा विचार एक साथ ही दौड़ आया। अपार जन समूह का अनावश्यक विनाश? क्या यह टाला नहीं जा सकता? दोनों दलों के विचारक चिन्ताकुल हुए, मन्त्रणा हुई युद्ध रोकने की पर यह असम्भव था। चक्रवर्ती अपने मद में चूर था और बाहुबलि अपना मस्तक ऊँचा रखना चाहते थे। तीसरा कोई रास्ता ही न था।

'युद्ध नहीं रोका जा सकता' मन्त्रियो ने स्पष्ट जान लिया पर वे अपने प्रयत्न में पीछे न हटे। उनके सामने तो व्यर्थ के जनविनाश का प्रश्न था। उनने भरत और बाहुबलि दोनों से सम्मिलित प्रार्थना की कि वे परस्पर अपनी व्यक्तिगत शक्ति का प्रदर्शन करें और वही उनकी विजय का निर्णय करेगी।

मन्त्रिप्रतिनिधियो की इस प्रार्थना को दोनों वीरों ने स्वीकृत कर लिया। अब प्रश्न था कि युद्ध का रूप कैसा हो? मन्त्रियो ने थोड़े से विवाद के पश्चात् ही इसे निर्धारित कर दिया और विचार पूर्वक तीन प्रकार के युद्ध निश्चित किए गए। दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध। गगन का साम्राज्य सिद्ध करेगा दृष्टि

युद्ध, जलका जल युद्ध और पृथ्वी के विजेता का निर्णय पौरुष और शक्ति से समन्वित मल्लयुद्ध कर सकेगा।

"दृष्टि युद्ध सर्व प्रथम होगा" निर्णायकों ने घोषणा की। दर्शक स्तब्ध होकर दोनों वीरों को देख रहे थे, दोनों की शक्ति और सामर्थ्य को जानते हुए वे किसी निर्णय पर न पहुँच सकते थे कि विजय का सेहरा किसके मस्तक पर शोभित होगा।

बाहुबलि के शरीर की ऊँचाई भरत से अधिक थी। वह इस युद्ध की विजय मे सहायक हुई। जिसे वे सरलता से दृष्टिगत कर लेते थे उसी वस्तु को देखने में भरत को कष्टसाध्य प्रयास करना पड़ता था। युद्ध मे बाहुबलि की विजय हुई और भरत की पराजय।

दूसरा युद्ध भी बाहुबलि की विजय के साथ समाप्त हुआ। उनकी उन्नत काय यहाँ भी भरत की पराजय का कारण हुई। भरत को जलयुद्ध मे भी परास्त होना पड़ा। अब शेष रहा था तीसरा और अन्तिम मल्लयुद्ध। यही निर्णायक युद्ध था। लगातार की पराजय से भरतका मुख मलिन हो चला था पर बाहुबलि पर इस विजय का कोई प्रभाव न पड़ा, वे इससे न तो प्रसन्न ही थे और न उन्हें अपनी विजय पर गर्व ही था।

निर्णायकों ने संकेत किया और दोनों वीर मल्लभूमि में अवतरित हुए। दर्शक विशेष कुतूहल के साथ इस युद्ध को देख रहे थे। साम्राज्य के नाम पर दो भाई आज एक दूसरे के शत्रु बन गये थे, दोनों के चेहरे क्रमशः कठोर होते जाते थे और दोनो अपने अपने दांव-पेंच लगा रहे थे। लोगों ने थोड़े ही समय में यह ज्ञात कर लिया कि योद्धा समशक्ति हैं, विजयी कौन होगा? इसका उत्तर भविष्य ही दे सकता था।

देखनेवाले देखने में लीन थे। कभी कभी अनायास ही

उनके मुख से 'धन्य धन्य' के स्वर निकल पड़ते थे। अचानक लोगों ने देखा कि बाहुबलि ने भरतको अपने हाथों में उठा लिया, बाहुबलि के बलिष्ठ हाथों मे सम्राट् भरत बालक की भाँति छटपटा रहे थे। लोगों ने निश्चय कर लिया कि भरत के प्राण खतरे मे हैं, वे त्रस्त थे और प्रतिक्षण भरत के शव को पृथ्वी पर देखने की आशंका कर रहे थे। पर नहीं! उपयुक्त अवसर पर बाहुबलि का सौजन्य जाग उठा, ज्येष्ठ भ्राता की मर्यादा का उन्हें स्मरण हो आया। उनका सारा मनोमालिन्य दूर हो गया और दूसरे ही क्षण उन्होंने भरत को धीरे से भूमि पर खड़ा कर दिया। भरत स्वतत्र थे।

निर्णायकों का निर्णय बाहुबलि के पक्ष मे रहा। चारों ओर 'जय जय' और 'धन्य धन्य' के स्वर गूंजने लगे, पुष्पवृष्टि होने लगी और जनता उत्साह से उछलकूद मचाती हुई बाहुबलि का अभिनंदन करने लगी। पर बाहुबलि को इस विषय से रञ्च-मात्र भी हर्ष न हुआ बल्कि उनकी उदासीनता ही बढ़ गई। दूसरी ओर साम्राज्य का स्वप्न नष्ट हो जाने से भरत का विरोध तीव्र रूप धारण करने लगा। बाहुबलि की विजय उसे घातक आघात प्रतीत हुई और इस अपमान के प्रतिशोध मे बाहुबलि का अस्तित्व भी उसे असह्य हो गया। उसका पिशाच जाग उठा और दूसरे ही क्षण उसके हाथ में चक्र लक्षित हुआ।

निर्णायकों से चक्रवर्ती का मनोविकार छिप न सका।

"सम्राट्! न्याय!" उन्होंने दुहाई दी "बाहुबलि अजेय हैं"

भरत का मस्तक नत हो गया।

× × × ×

भरत की उत्तेजना और साम्राज्य-लिप्सा का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा बाहुबलि पर। संसार का स्वार्थ आज उन्होंने स्पष्ट

देख लिया था, एक छोटे से राज्य के लिए भाई को भाई का वध करते देख उन्हें संसार की असारता का अनुभव हो गया और इससे उन्हें विराग हो गया।

"भरत तुम सम्राट हो, यह लो मेरा राज्य तुम्हारा हुआ" मस्तक से मुकुट उतार कर बाहुबलि ने भरत के चरणों में रख दिया।

"भैया" भरत उनसे लिपट गया। बाहुबलि के सौजन्य ने उसे पिघला दिया था, वह बाहुबलि के गले से लिपटा हुआ रो रहा था और अपने भयंकर अपराध का स्मरण कर भूमि में गड़ा जा रहा था।

"बाहुबलि मुझे क्षमा करो" चक्रवर्ती ने प्रार्थना की।

मैंने सब को क्षमा कर दिया सम्राट्, आज से मेरा कोई शत्रु नहीं" बाहुबलि उस ओर चल दिए जहां कोई किसी का विरोधी नहीं होता। तीर्थंकर ऋषभदेव की शरण में !

× × ×

वर्ष समाप्त होने को आया। ठूंठ की भांति निश्चल योगी आज भी तपस्या में लीन था, बड़े बड़े पशु उसके शरीर को शिलाखंड समझ कर अपना शरीर रगड़ा करते थे, पक्षी थक कर उसके शरीर पर विश्राम करते थे और वनलताएं आश्रय पा उसके शरीर पर छा गई थीं।

ग्रीष्म ऋतु की तपती धूप उसके निश्चेष्ट शरीर को तपा कर चली गई। मूसलाधार वर्षा उसे डिगाने का प्रयत्न कर थक गई और भीषण शीतकाल भी हिम बरसा कर उसे डिगाने की चेष्टा करता रहा पर वह अब भी वैसा ही स्थिर है, निश्चल, निश्चेष्ट, अटल और अडिग !

लोगों ने उसका नाम 'शिलाखंड सा योगी' रख लिया। 'इतना तप' लोग दांतों तले अंगुली दबाकर रह जाते थे और प्रकृति से लड़नेवाले उस निराहार योद्धा के आगे जाकर उनके मस्तक अपने आप झुक जाते थे।

इतने पर भी योगी को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति न हुई। यह सत्य है कि दुर्धर्ष तप आत्मज्ञान का एकमात्र साधन नहीं है। योगी निर्द्वन्द्व न था, निरपेक्ष न था। शल्य की भांति एक साधारण सी चिन्ता आज भी उसके मन को पीड़ा दे रही थी।

"मैं भरत की भूमि अधिकृत किए हूँ" यह कसक उसके मन को वेध रही थी। इतने बड़े योगी को यह स्मरण न रहा कि जड़ का चेतन से कोई सबंध नहीं। भरत का भूमि पर भौतिक अधिकार भले ही हो पर वह सत्य नहीं है। भूमि किसी की नहीं, किसी का उस पर अधिकार नहीं।

चिन्ता थी तो साधारण सी पर योगी के ज्ञान की पूर्णता मे वाधक रही। उसे आत्मज्ञान न हो सका।

× × ×

योगी की कीर्ति सुनकर चक्रवर्ती भरत एक दिन उसके दर्शन करने गया। चरणो में गिर पड़ा दुनिया का सम्राट योगि-सम्राट के।

"चक्रवर्ती, आज भी मैं तुम्हारी भूमि अधिकृत किए हूँ" योगी के मुख से अस्पष्ट ध्वनि प्रस्फुटित हुई जैसे वह सदा यही जपता रहा हो।

चक्रवर्ती यह सुनकर आश्चर्य मे डूब गया। 'तपस्वी बाहु-बलि उस घटना को आज तक नहीं भूले' उसकी आंखो मे पानी आ गया। "स्वामिन, मेरी भूमि कैसी ? यह तो आप की ही

है। मैं तो आप का प्रतिनिधि बनकर प्रजा की सेवा कर रहा हूँ। मेरा कुछ भी नहीं है, मैं अकिञ्चन हूँ" चक्रवर्ती पुनः योगी के चरणों में गिर पड़ा।

अकस्मात् योगी की आखें नवीन ज्योति से दीप्त हो उठीं, चेहरे पर नवीन चमक छा गई और उसके चारों ओर प्रकाश-पुञ्ज बिखर गया। "मैं स्वतंत्र हूँ" स्वतंत्रता का अनुभव करते ही वह सदा के लिए स्वतंत्र हो गया। उसका ज्ञान पूर्ण हो गया और उसकी आत्मा परमात्मा बन गई।

'बाहुबलि स्वामी की जय" से आकाश गूँज उठा। दुनियां के सम्राट ने जब ऊपर दृष्टि उठाई तो देवों के सम्राट को बाहु-बलि की अर्चना के लिये आते देखा।

पृथ्वी के सम्राट ने स्वर्ग के सम्राट के साथ त्रिभुवनसम्राट की पूजा की और अपने भाग्य की सराहना की।

दंभ का अन्त

लोक कल्याण में प्रवृत्त तीर्थंकर नेमिनाथ द्वारिका में विहार कर रहे थे। सुर, असुर और विद्याधरों ने भगवान के उपदेश का प्रबन्ध किया था। नवनिर्मित विशाल सभाभवन में नर और नारी, पशु और पक्षी तथा देवों और अदेवों से घिरे हुए वे गगन में तारिकामण्डित चन्द्रमा जैसे सुशोभित थे। स्थान स्थान पर अशोकवृक्ष क्लान्ति और शोक दूर करते थे, परस्पर विरोधी प्राणी वैर भूल कर सेवा और प्रेम का पाठ सीखते थे।

नारायण कृष्ण सदलबल भगवान के चरणों में मस्तक झुकाने आए थे। उनके साथ ज्येष्ठभ्राता बलराम, सखा उद्धव, महासामन्त जरत्कुमार तथा अनेक सामन्त और विशिष्ट पुरुष भी थे।

"द्वारिकाधीश नारायण कृष्ण चरणों में प्रणाम करता है प्रभो" कृष्ण ने प्रणाम किया। दूसरों ने भी उनका अनुकरण किया।

भगवान का अभयहस्त आशीर्वाद के लिए उठा ही था कि अचानक रुक गया और उनके ओठों पर उपेक्षा भरी मुस्कराहट की रेखा दौड़ गई। भगवान का यह व्यंग भरा स्मित कृष्ण के हृदय पर चोट कर गया, उसने उनके मनमें एक नवीन शंका को जन्म दिया।

"यह कैसा व्यंग्य भगवन्" कृष्ण ने आतुर होकर पूछा।

"व्यंग्य नहीं नारायण, सत्य" भगवान ने उत्तर दिया।

"कैसा सत्य भगवन्, क्या मैं द्वारिका का अधिपति नहीं, क्या मैं नारायण नहीं" कृष्ण ने हाथ जोड़े प्रार्थना की।

"अवश्य, पर इतना मात्र ही सत्य नहीं है, सत्य कुछ और भी है" भगवान बोले।

"वह क्या प्रभो !" कृष्ण ने विनत जिज्ञासा प्रकट की।

"यह कि तुम मनुष्य हो, द्वारिकावासी भी मनुष्य हैं। सभी मनुष्य समान हैं, फिर तुम अधीश कैसे ?" समता के प्रचारक भगवान ने कृष्ण को समता का पाठ पढ़ाया।

"मैंने लोकव्यवहार की अपेक्षा ऐसा कहा था भगवन्" कृष्ण ने सफाई पेश की।

"यहाँ लोकव्यवहार की आवश्यकता क्या ? यहाँ तो सभी समान हैं" भगवान बोले।

कृष्ण का मस्तक नत हो गया। उनने अपनी भूल स्वीकार की अवश्य पर उनका मन साफ न हुआ। अपार जनसमूह के सम्मुख मेरा अपमान हुआ, यह विचार अभी भी उनके मनको दुखा रहा था। उनके मुख पर विषाद की रेखाएँ छा रही हैं, भगवान से यह छिप न सका।

"नारायण कृष्ण, तुम्हें अभी शान्ति नहीं मिली। इन साधारण मनुष्यों के साथ साम्य स्थापित करने मे तुम्हें कष्ट होता है न ?" उन्होंने प्रश्न किया।

"नही प्रभो" कृष्ण ने हाथ जोड़े उत्तर दिया।

"वाणी हृदय का प्रतिरूप नहीं है कृष्ण, तुम्हारी वाणी और तुम्हारे विचारों में असंगति है" भगवान ने आगे कहा।

कृष्ण चुप रहे। उनका हृदय अभी भी यह स्वीकार नहीं कर रहा था कि वह साधारण मनुष्य से कुछ भी अधिक नहीं है। भगवान के सामने वे नम्र अवश्य हो गए थे पर उपदेशक

तीर्थंकर इतने से ही संतुष्ट नहीं हुए, वे तो हृदय का परिवर्तन चाहते थे। कृष्ण को सत्य तक पहुँचाने का उन्होंने नया उपाय सोचा।

"तुम्हारा हृदय निष्कलुष नहीं है कृष्ण! तुम्हें स्मरण है, इसी साम्राज्य के लिए तुमने मेरे निष्कासन का प्रबन्ध किया था और अब यह भी जान लो कि इस साम्राज्य की आयु बारह वर्ष से अधिक नहीं है। तुम्हारे अभिमान का कारण, तुम्हारी रची हुई नगरी द्वारिका बारह वर्ष में ही नष्ट हो जायगी और तुम्हें अनाथ की भाँति यहाँ वहाँ भटकना पड़ेगा।" वे बोले।

कृष्ण के ऊपर वज्र गिरा। त्रिकालदर्शी तीर्थंकर नेमिनाथ के वचन असत्य नहीं हो सकते। सभाभवन थर्रा उठा, यादव त्रस्त हो गए। उनके शरीर थर थर काँपने लगे जैसे वह अनागत विपत्ति इसी क्षण उपस्थित होनेवाली है।

"भगवन्! यह कैसा अभिशाप?" कृष्ण के पास में खड़े कुमार जरत् ने मस्तक झुका कर प्रार्थना की।

"इसे अभिशाप नहीं, वरदान समझो कुमार" भगवान ने उत्तर दिया। "भविष्य को जानकर जो अपना कल्याण करना चाहते हैं, उन्हें यह वरदान है। और तुम भी अपना भविष्य सुन लो! कृष्ण के प्राणहर्ता तुम्हीं होगे"।

जरत्कुमार को काटो तो खून नहीं। 'कृष्ण का घातक मैं? नहीं! असंभव! भगवान के वचनों पर विश्वास होते हुए भी कुमार को यह असभव सा प्रतीत हुआ। स्वप्न मे भी वह कृष्ण के विरुद्ध अस्त्र का उपयोग नहीं कर सकता फिर यह दुर्घटना सभव कैसे होगी? उसकी आँखों से आँसू झरने लगे।

"भैया! क्या यह सच है?" कहता हुआ वह कृष्ण से लिपट गया।

कृष्ण स्वयं भय से त्रस्त थे। वे वीर थे, शूर थे पर सहिष्णु न थे। वह आत्मशक्ति जो ज्ञानी में होती है, उनमें न थी। 'संसार के नियम को कोई नहीं टाल सकता' यह स्वीकार करते हुए भी कृष्ण का मोह का परदा हटा नहीं था, उनकी अतृप्त अभिलाषाएँ अभी जागृत ही थीं, उनने उन्हें शान्त करने की कभी चेष्टा ही न की थी। इस समय यदि कोई और होता तो भगवान के चरणों में गिरकर प्रार्थना करता कि 'हे कल्याणदाता मुझे इस भव बंधन से मुक्त करो' पर कृष्ण के ऐसे भाग्य कहाँ। अपनी भावी दुर्दशा की कहानी सुनते हुए भी उनके सामने नाच रहा था विशाल साम्राज्य, स्वर्गपुरी सी द्वारिका और दिगन्तव्यापिनी कीर्ति।

"द्वारिका कैसे नष्ट होगी भगवन्" कृष्ण ने कथा का अंतिम पृष्ठ भी पढ़ना चाहा।

"तेजस्वी द्वीपायन के योगबल से" भगवान ने उत्तर दिया। द्वीपायन ने जब यह सुना तो भौचक्के रह गए। इतनी भारी हिंसा! इतने प्राणियों का घात! उसका फल? करोड़ों वर्ष नरक की दुस्सह यातनाएँ! "हे भगवन्" वह त्रस्त हो उठे और इस महापाप से बचने का उपाय सोचने लगे। उनने निश्चय किया कि मैं इतनी दूर भागूँगा कि द्वारिका का मुँह भी न देखना पड़े और न व्यर्थ ही इतनी हिंसा का पाप भुगतना पड़े।

अपने निश्चय के अनुसार जरत्कुमार भाई कृष्ण की मृत्यु टालने के विचार से द्वारिका छोड़ विदेश चल दिए। द्वीपायन ने भी कहीं दूर के लिए प्रस्थान कर दिया और कृष्ण तथा बलराम शोक और चिन्ता साथ लिए राजमहल लौटे।

× × × ×

बारह वर्ष समाप्त होने को थे। यादवों का भय दूर हो चला था, उन्हें विश्वास सा हो गया था कि हम बच गए और भगवान के वचन पहिली बार असत्य हुए। अभिमान में मत्त होकर वे अनेक प्रकार के उत्सवों का आयोजन करते थे, आमोद-प्रमोद, नृत्य वादन आदि उनकी दिनचर्या के प्रमुख अंग हो गए थे। न्याय-नीति और आचार का नाम-सा उठ गया था और सर्वत्र स्वेच्छाचार का दौरदौरा था।

कृष्ण और बलराम आज भी चिन्तित थे। उनका एक एक क्षण युगसा बीतता था और हर घड़ी उन्हें आपत्ति के बादल उमड़ते दिखते थे। उस विकट दुर्घटना का स्मरण कर वे त्रस्त हो उठते थे।

× × × ×

एक दिन की बात। सायकाल का समय हो गया था। मद्यपी यादव उपवन क्रीडा के अनतर लौट रहे थे कि उनकी दृष्टि एक व्यक्ति पर पड़ी जो ध्यान मे लीन था निर्वस्त्र, निश्चिन्त और निश्चेष्ट! मत्त यादव नशे में सब कुछ खो चुके थे। पूज्य साधु भी अब उन्हें उपहास और मनोरञ्जन के साधन प्रतीत हुए और उनने साधु से नानाप्रकार के अश्लील व्यंग करना प्रारंभ किया। साधु पर जब इन कृत्यों का कोई प्रभाव लक्षित न हुआ तो यादवों का क्रोध बढ़ने लगा और वे उस पर धूल और पत्थरो की वर्षा करने लगे।

विकट प्रहारों से साधु के शरीर से खून की धाराएँ बहने लगीं। उसका वृद्ध शरीर क्षतविक्षत हो गया था पर दुष्ट यादव अभी भी अपने खेल में रत थे। साधु का शान्त मुख रौद्र हो गया और उसके शरीर से एक तेज पुंज सा उद्भासित

हुआ। दूसरे ही क्षण द्वारिका की उत्तुङ्ग अट्टालिकाएँ धाँय-धाँय प्रज्वलित हो उठी। नरनारी जहाँतहाँ भागने लगे, चारों ओर हाहाकार मच गया, भगदड़ के बीच जिसे जहाँ राह मिली, भाग चला। एक को दूसरे की सुधि न थी, माँ बच्चे को भूल गई थी और पुत्र बूढ़े पिता को जलते छोड़ भाग निकला था। चारों ओर कोलाहल और आर्तनाद के स्वर गूँज रहे थे।

कृष्ण और बलराम जनता को ढाढ़स बँधाते हुए स्वयं भाग रहे थे। नगरी के प्रधान द्वार पर पहुँचने के पहिले उनने देखा, अर्धदग्ध द्वीपायन दो अंगुलियाँ उठाकर संकेत कर रहे हैं। कृष्ण ने संकेत का अर्थ समझ लिया कि अब द्वारिका का अंतिम समय आ पहुँचा है और दोनों भाइयों के सिवाय अन्य किसी की रक्षा असंभव है। प्रजा की रक्षा का दंभ करने वाला कृष्ण अपनी आँखों के सामने अपनी प्रजा का विनाश देख रहा था पर विवश था, असमर्थ था।

भागती हुई प्रजा का नेतृत्व करते हुए दोनों भाई प्रधान द्वार तक पहुँच ही गए। चारो ओर अग्निज्वालाएँ प्रज्वलित हो रही थीं फिर भी जनता को आशा होने लगी थी कि अब हम आपत्ति से बच सकेंगे। लोग शीघ्रता से प्रधान द्वार की ओर बढ़े पर हाय! भाग्य पर किसी का वश नहीं चलता। अभी कृष्ण और बलराम ही बाहिर हो पाए थे कि अचानक द्वार अवरुद्ध हो गया। बिलखती जनता भीतर ही रह गई और द्वारिकाधीश के देखते-देखते द्वारिका भस्म हो गई।

"हे भगवान्" कृष्ण ने साँस ली और दोनों भाई आगे बढ़े।

× × × ×

इतने पर भी कृष्ण को संतोष था कि मैं बच गया। बलराम अभी भी भविष्य के बारे में सतर्क थे, पग-पग पर उन्हें विपत्ति सन्मुख खड़ी दिखती थी।

कथा अभी पूरी नहीं हुई थी। निर्जन वन में पहुँच कर श्रान्त कृष्ण विश्राम के लिए लेटे ही थे कि अकस्मात् एक विषाक्त तीर आकर उनके दाहिने पैर में बिंध गया। वेदना से वे तड़फने लगे। आर्तस्वर सुनकर जब जरत्कुमार दौड़ादौड़ा आया तो नारायण कृष्णको भूमि पर मरणासन्न लुढकते देखा। कृष्ण के दाहिने पैर के पद्म से उसे मृग का भ्रम हो गया था और यही भ्रम नारायण कृष्ण की मृत्यु का कारण बन गया।

"भैया क्षमा करो" जरत्कुमार कृष्ण के चरणों में गिर पड़ा और फूट-फूट कर रोने लगा।

"तुम निर्दोष हो जरत्, भगवान् ने सत्य ही कहा था" कृष्ण ने जरत्कुमार के सिर पर हाथ फेरा।

"मेरे दंभ का अन्त हुआ" उनके मुख से निकला और दूसरे क्षण उनके प्राणपखेरू उड़ गए।

द्वारिकाधीश को जमीन पर निस्सहाय पड़ा देख बलराम की आँखों से आँसू बह पड़े।

रक्षाबन्धन

नव वधू प्राची ने सम्हलते हाथों से रक्तावगुण्ठन को किञ्चित् हटा कर रसीली कनखियों से प्रिय को देखने का प्रयत्न किया। प्रिय की अलस भरी मुस्कान पर वह ऐसी रीझी कि देखती ही रह गयी! उसे आंखो में भर लेना चाहा उसने! उसे भान भी न हुआ कि उसकी इस असावधानी मे उसका अवगुण्ठन सरक गया है और सुकुमार बाल-सूर्य सा उसका रमणीय मुखड़ा ऊषा की लालिमा सदृश रक्तावगुण्ठन की मर्यादा से बाहर होकर असंख्य आँखों को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है; कान्ति की रसीली राशि बिखर चुकी है और उसका प्रकाश सर्वत्र फैल गया है।

इस असावधानी की सूचना प्राची को तब मिली जब चिडियां चहचहा कर हस पड़ीं। चारो ओर से व्यग्यो और तानों की बौछार आने लगीं। लजा गई बेचारी अपनी इस स्खलनशीलता पर और उसका मस्तक नम्र हो गया। चिड़ियो जैसी सहेलियां भला इस समय कैसे मान सकती थीं, सहेली धर्म निभानेका यही तो अवसर था। मैना बोली,—'देखो न रानी! अच्छी तरह देखो!' बुलबुल ने मुस्कुराहट को छिपा कर सरसता की पुट देते हुए कहा 'बहुत सुन्दर है न'? किसी ने कहा—'नई प्रीति है' तो अन्य और कुछ ही कह बैठी! मतलब यह कि जिसे जो सूझा वही बक गया। मधुर तानों और रसीले व्यंग्यों का तांता टूटने का नाम ही न लेता था! पर बेचारी प्राची! वह तो जमीन मे गड़ी जा रही थी; उसने कहाँ

सोचा था कि ये दुष्टाएँ झाड़ियों की आड़ में छिप कर उसकी गति-विधि का निरीक्षण करेंगी ! यथासम्भव वह चुप रही पर अन्त को झुंझला ही तो उठी 'जाओ, देखा तुम्हारा क्या' ! उसके नथुने कांपने लगे, भौंहें तन गयीं ! वह सचमुच चिढ़ गयी थी। सहेलियों के सरस मजाक को वह कटु सत्य समझ बैठी थी। सहेलियों ने देखा कि उनकी सखी का पारा चढ़ रहा है, कहीं लड़ाई की जड़ हंसी न हो जाय। वे एक एक कर वहाँ से खिसक गयीं।

अलका सी अवन्तीपुरी अरुणोदय के साथ ही तरुण हो गयी। शयन-कक्ष से निकलते ही राजा श्रीवर्मा को उपवन के माली ने झुक कर 'महाराज की जय' कह कर अभिवादन किया। विविध पुष्प फलादि भेंट कर उसने निवेदन किया—'महाराज ! सात सौ दिगम्बर मुनियों के साथ आचार्य अकम्पन नगर के उपवन में पधारे हैं।' राजा के हर्ष का ठिकाना न रहा, 'साधु-सन्तो के दर्शन सौभाग्य से ही मिलते हैं।' आज्ञा दी 'मन्त्रियों को भी इसकी सूचना दो और निवेदन करो कि मैं साधुओं के दर्शन कर सुखलाभ करूंगा।'

माली 'जो आज्ञा' कहकर चल दिया।

× × ×

मन्त्रियों ने जब यह आज्ञा सुनी तो वे सन्न रह गये। 'नग्न मुनियों के दर्शन ! नहीं, यह तो महापाप है।' घृणा और विवशता के विषम थपेड़ों मे वेचारों की दुर्गति हो गयी। उन्हें कोई अवलम्ब ही न सूझता था जिसके सहारे इस महापाप की नदी के विकट प्रवाह में बहने से वे अपने को बचा सकें। आखिर क्या करते ? राजाज्ञा ही तो ठहरी—'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं', हाथ बाँधे दौड़े आये।

"आप उन नग्नों के दर्शन करने जायेंगे महाराज !" प्रधान सचिव वलि ने नाक भौं सिकोड़ी।

"हाँ मन्त्रिमहोदय ! साधु कभी अदर्शनीय नहीं होते।" राजा ने सरल उत्तर दिया।

"पर वे तो नग-धड़ग रहते हैं महाराज, निरे निर्लज्ज हैं, वे साधु कैसे हो सकते हैं ?" दूसरे मन्त्री ने आपत्ति की।

मन्त्री के ये वाक्य राजा को अनुचित जंचे पर इसे प्रकट न करते हुए उसने शान्त स्वर में जवाब दिया—"नंगा वही रह सकता है जिसके मनोविकार प्रशान्त हो चुके हैं। जिसकी दृढ़ इच्छा-शक्ति के सन्मुख वे टिक नहीं सकें और भाग खड़े हों। क्या आप बतला सकते हैं कि बालक नग्न रहने पर भी किसी के मन में विकार क्यों नहीं उत्पन्न करता ? इसलिए कि वह स्वयं निर्विकार है। एक पागल को नग्न देखकर आपके मन में कामोत्तेजना क्यों नहीं होती ? इसलिए कि उसकी कामाभिलाषा नष्ट हो चुकी है। नगा रहना सरल काम नहीं है मन्त्रिमहोदय ! यह विरले योगियों से ही साध्य है। हमें ऐसे योगियों के दर्शन अवश्य करना चाहिये।"

"पर यह तो आप के धर्म के विरुद्ध है महाराज !" अन्य किसी तर्क के अभाव में वलि ने धर्म की दुहाई दी।

"राजा का कोई धर्म नहीं होता मन्त्रिमहोदय ! प्रजा का धर्म राजा का धर्म है। मेरा वही धर्म है जो मेरी प्रजा का है, मैं हर धर्म और जाति का संरक्षक हूँ" राजा ने सगर्व उत्तर दिया।

राजा के इस दृढ़ उत्तर ने मन्त्रियों को निरुत्तर कर दिया। वे चुप खड़े एक दूसरे की ओर निहार ही रहे थे कि राजा ने फिर कहा—'कुछ भी हो, आप लोगों को मेरे साथ चलना

होगा' और वह स्वयं चल दिया। मन्त्री भी अपना सा मुह लिए राजा के पीछे पीछे चल दिये।

× × ×

उपवन का सुहावना और शान्त वातावरण किसी भी सहृदय के मन को मोह सकता है। पशुगण जहाँ निर्द्वन्द्व यथेच्छ विचरण कर रहे हों, पक्षी जहाँ मधुर स्वर में प्रेमालाप कर रहे हों, सरोवरो में मछलियाँ निर्भय किलोलें कर रहीं हों, स्नेह और वात्सल्य की जहां धारा बह रही हो, द्वेष और ईर्ष्या जहाँ दृष्टिगोचर तो क्या कर्णगोचर भी न होते हों, ऐसे स्थान मे यदि आप पहुंच जायें तो आपका चित्त सचमुच स्वस्थ हो जाएगा, हृदय प्रफुल्लित हो उठेगा ! सांसारिक जजालो की जजीरो के बन्धन अपने आप खुल जाऐंगे और आप अपने को स्वतन्त्र अनुभव करेंगे।

उपवन में पहुंचते ही वहाँ की शान्त सुन्दरता ने राजा के मन को तो मोह लिया ही था, फिर शान्ति की मूर्ति, वन के देवता, आचार्य को देखकर तो वह श्रद्धा से नम्र हो गया। सुख की सच्ची अनुभूति का उसने साक्षात्कार किया। आचार्य को मस्तक झुकाकर वहीं बैठ गया।

राजा के आने के पूर्व ही आचार्य ने अपने विशिष्ट ज्ञान से जान लिया था कि इस नगरी में अनेक अप्रत्याशित उत्पात खड़े हो सकते हैं, इसलिए संघ के सदस्यो सहित वे आहार निद्रा आदि वृत्तियों से निरपेक्ष हो ध्यानस्थ हो गए थे। उनके इस मौन से भी दुष्ट प्रकृति मन्त्रियों ने अनुचित लाभ उठाना चाहा। मुनियों के विरुद्ध राजा को भड़काने की चेष्टा करते हुए बलि बोला "महाराज, ये पक्के ढोगीं हैं"! राजा ने बलि के

कथन पर कुछ ध्यान न दिया, चुप रहा। मन्त्री भला क्यों मानने चले, राजा को चुप देख वे और भी क्षुब्ध हो उठे। बलि ने दुबारा आग उगली 'महाराज, ये निरे अज्ञानी हैं और इसीलिए चुप हैं। अपने अज्ञान को मौन के परिधान में छिपाने का प्रयत्न करने पर भी ये बुद्धिमानो की आँखों को धोखा नहीं दे सकते। आप जैसे नृपति इन्हें प्रणाम करें और इनके मुख से आर्शीवाद के दो शब्द भी न निकलें। इन्हें लोक व्यवहार का तो जरा सा भी ज्ञान नहीं है, अतएव मौन हैं।"

राजा ने सब शान्त चित्त से सुन लिया पर जवाब कुछ न दिया। मुनियो के प्रति वह इतना अधिक आकृष्ट हो चुका था कि उनके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं सुन सकता था किन्तु साथ ही मन्त्रियों को दुःख भी नहीं पहुँचाना चाहता था। चुपचाप वहाँ से उठा और वापिस चल दिया।

× × ×

"तुम्हारा कार्य अनुचित हुआ बन्धु !" आचार्य ने सौम्य स्वर मे कहा।

"कैसे देव ?" युवक मुनि ने जिज्ञासा प्रकट की।

"इसलिए कि दुर्जनों के साथ विवाद किया" आचार्य ने उत्तर दिया।

"पर मैंने अपने लिए ऐसा नहीं किया, समाज और धर्म पर किए गए अनुचित आक्षेपो का उचित उत्तर ही तो दिया है" युवक मुनि ने सफाई दी।

"मार्ग मे दीवाल उपस्थित हो जाने पर उससे टकराने मे टकरानेवाले का ही अलाभ है" आचार्य ने तर्क उपस्थित किया।

"पर कुदालों की सहायता से उस पर विजय पाई जा सकती है देव !" युवक मुनि ने तर्क का उत्तर तर्क से दिया।

"ठीक कहते हो बन्धु ! तुम्हारा तर्क गलत नहीं है, समाज और धर्म की रक्षा के लिए हर वैध उपाय का अवलम्बन लेना प्रत्येक सामाजिक का कर्तव्य है। पर हमारा मुनि समाज इससे भिन्न है। हमारे उद्देश्य की पूर्ति सहनशीलता में है। मान अपमान का विचार हमारे लिए नहीं है। किसी धर्म विशेष के प्रति आग्रह न कर सर्व हितैषी सिद्धान्तों को ही हमे अपना धर्म मानना चाहिए।" आचार्य ने उपदेश का सहारा लिया।

"मैं आप की शिक्षा के आगे मस्तक झुकाता हूं, मुझे दण्ड मिलना चाहिए" शिष्य ने अपराधी की भांति निवेदन किया।

"दण्ड ! नहीं, तुम्हें दण्ड नहीं दिया जा सकता। अपराधी ही दण्ड का पात्र है। पर........."आचार्य बीच मे रुक गए।

"पर क्या देव ! स्पष्ट ही कहिए" युवक मुनि ने प्रार्थना की।

"तुम्हारी इस अकिञ्चित् उत्तेजना से सघ का भारी अकल्याण सम्भावित है" आचार्य ने धीमे स्वर मे कहा।

"सो कैसे देव ?" शिष्य की वाणी मे दीनता और कम्पन था।

"मन्त्रीजन अपने अपमान को सहज ही सहन न करेंगे और वे इस का प्रतिशोध अवश्य लेंगे। मुझे जान पड़ता है, आज ही रात वे अपना बदला हमारे प्राणों से चुकावेंगे।" आचार्य का स्वर क्रमशः धीमा हो चला था।

"इसके निराकरण का कोई उपाय नहीं है देव !" शिष्य की आँखों में आँसू भर आए।

"उपाय कष्टसाध्य है" आचार्य ने उत्तर दिया।

"आज्ञा दीजिये, मैं प्राणों के मूल्य से भी उसका सौदा करने को तैयार हूँ" शिष्य की वाणी में दृढ़ता थी।

"साधु वत्स! तुम सच्चे साधु हो। साधु वह नहीं जो सांसारिक कष्टों से भयभीत हो जंगल की एकान्त कन्दराओं में तप के बहाने आ छिपता हो; साधु वह है जो कष्ट सहने का अभ्यास करता है। अवसर आ जाने पर सीना अड़ा देता है। मुझे प्रसन्नता है, तुमने साधुता का परिचय दिया। मुझे गर्व है, तुम मेरे शिष्य हो।" आचार्य गद्गद हो उठे।

"देव, शीघ्र कहिये, मैं संघ की रक्षा किस प्रकार कर सकता हूँ" शिष्य की आँखों से आँसू बह निकले।

"तो ठीक है, वध-स्थान पर ही आज की रात बिताओ। स्मरण रहे, मन्त्रीजन बदला अवश्य लेंगे और यह भी स्मरण रहे कि तुम्हीं उनके मुख्य लक्ष्य हो" आचार्य ने युवक मुनि को परिस्थिति की विकटता से पूर्ण परिचित करा दिया।

"मुझे स्वीकार है देव! संघ के कल्याण में मेरा कल्याण निहित है, संघ की रक्षा धर्म की रक्षा है। मैं अपनी महन-शक्ति का सच्चा परिचय दूंगा, साधुवृत्ति का सच्चा रूप उपस्थित करूंगा। मुझे विश्वास है, मैं आपत्ति के सम्मुख दृढ़ अवस्थित रहूँगा क्योंकि आपका आशीष मेरे साथ रहेगा।" युवक शिष्य अन्तिम नमस्कार कर चल दिया।

"यह दण्ड नहीं, प्रायश्चित्त है बन्धु, इसे स्मरण रखना!" चलते-चलते आचार्य ने सूचना दी।

× × ×

अंधेरी रात! नीरव! निस्पन्द! तम की सघनता ऐसी कि हाथ को हाथ नहीं सूझता था। सर्वत्र सूनापन छाया हुआ था।

वायु के 'सॉय सॉय' शब्द के सिवाय कहीं कोई आहट न होती थी। चपला विद्युत् क्षण भर के लिए चमक कर अन्धकार की सघनता को और भी बढ़ा देती थी। यदि कोई व्यक्ति वहाँ होता तो विद्युत् के इस क्षणिक प्रकाश में देखता कि चार व्यक्ति दबे पैर नगरी के बहिर्भाग की ओर बढ़े जा रहे हैं। वे बार बार पीछे फिर कर देखते है जिससे उनके शंकित चित्त का अनुमान लगाया जा सकता है। वेष-भूषा से वे उच्च कुलीन मालूम होते है। कमर में लटकती हुई तलवारें उनकी वीरता का परिचय देती हैं, पर उनका इस प्रकार आधी रात मे सकम्प दबे पैरो चलना किसी अनिष्ट की आशका उत्पन्न कर देता है। या तो इन्हें गुप्तचर होना चाहिये या डाकू या इन्हीं से मिलते जुलते कोई अन्य।

आगे चल कर तो ये चारो रुक गये और फुसफुसाहट भी करने लगे। अरे यह क्या! इन्होंने तो अपनी तलवारें म्यान के बाहर निकाल लीं, तो क्या ये किसी का वध करना चाहते हैं!

स्मरण रहे, ये चारो व्यक्ति और कोई नहीं, वही चार मन्त्री हैं जिनकी प्रतिशोध-भावना की आचार्य अकम्पन को आशंका थी। अपने अपमान का बदला अपमान करने-वालों से चुकाने के लिए ही ये दुष्ट आधी रात मे इस प्रकार छिपते-छिपते यहां आ पहुँचे हैं। राम-राम! उन निरीह भोले तपस्वियों पर ये शस्त्र कैसे चलेंगे? क्या उनकी रक्षा हो सकेगी!

अरे, सामने यह कौन निश्चल ठूंठ की भांति निश्चेष्ट खड़ा हुआ है। आकृति तो मनुष्य जैसी प्रतीत होती है। हाँ, याद आया; यह तो वही युवक मुनि हैं। ओहो, कैसी शान्ति और

सौम्य आकृति है इसकी ! इसे जरा भी आशंका नहीं, किञ्चित् भय नहीं ! कैसा निर्भय खड़ा है। इसे नहीं मालूम कि इसके वधिक इससे दूर नहीं और मालूम भी हो तो वह डरने क्यों चला ! जब शरीर से मोह नही तो डर काहे का !

एकाकी मार्ग मे ही अपने शत्रु को पाकर मन्त्रियों के हर्ष का ठिकाना न रहा। उनका शत्रु उनके सामने निस्सहाय खड़ा हुआ है, उसके प्राण उनके हाथों में हैं, मरी मक्खी की भांति उन्हें मसल दिया जा सकता है, वे फूल उठे।

'हमारे अपमान का बदला इसी के प्राण हैं' एक ने उत्तेजित हो कहा और सब के सब आगे बढ़ आये। पर चोर का दिल होता कितना है ! अपने साथी पर भी उसे शंका होती है। 'कहीं यह न हो कि रहस्य खुल जाय और वधिक को अपने प्राणों की बलि देनी पड़े' एक साथ ही सबके मन में यही शंका उपस्थित हो गयी। 'इसे मारे कौन'। अन्त में यह निश्चय हुआ कि चारो एक साथ ही प्रहार करें ताकि बदला चारो का चुक सके और पाप मे भी सब सम्मिलित रहें।

बिजली के प्रकाश मे चार तलवारें चमक उठीं। बस एक छपाके का शब्द और मुनि का मुण्ड पृथ्वी पर होगा ! पर यह क्या ? अरे, उनके हाथ रुक क्यों गये ? ओह, वे तो हिलते-डुलते भी नहीं, उनकी नसें तन गयीं और किंकर्तव्यविमूढ़ से वे एक दूसरे को क्यों देख रहे है। अरे, वे तो कीलित जैसे कर दिये गये है ! वे बेचारे समझ ही न पाये कि उन्हें हो क्या गया है, उनका सामर्थ्य कहां लुप्त हो गया ? क्या वे स्वप्न देख रहे हैं ?

सामने खड़ा व्यक्ति पूर्ववत् शान्त और सौम्य ज्यों का त्यो निश्चेष्ट था !

× × ×

दिन भर की गहरी वर्षा के अनन्तर सायंकाल से ही मेघ हट चुके थे। वर्षा की कोई सम्भावना न रही थी। राका का पूर्णचन्द्र अपने साथियो को साथ लिए गगन के विशाल क्रीडाङ्गण में क्रीड़ा करने निकला था। पृथ्वी दूध से धोई जान पड़ती थी।

वनप्रान्त मे आचार्य सागरचन्द्र शयन का उपक्रम कर रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि आकाश की ओर दौड़ी। सर्वत्र शांति थी, शीतलता थी और थी कान्ति मानों आचार्य के हृदय का प्रतिबिम्ब ही बिम्ब बन गया था। ऐसे शान्त कान्त वातावरण मे श्रवण नक्षत्र की ओर दृष्टि जाते ही आचार्य के नेत्रनक्षत्र कॉप उठे। 'श्रवण नक्षत्र का कम्पन किसी भारी अनिष्ट की सूचना है।' यह विचार आते ही आचार्य के सामने एक करुण दृश्य-सा उपस्थित हो गया। चारों ओर अग्नि धधक रही है, सड़े मांस, हड्डी आदि भयावन और घृणित वस्तुओ को ईधन बनाया जा रहा है, वन के पशु-पक्षी त्रस्त हो यहाँ वहाँ भाग रहे हैं और अग्नि के इस घेरे मे घिरे हैं सात सौ दिगम्बर मुनि! अपना प्राणान्त सन्निकट जान जो साधनारत होकर आत्मा को परमात्मा मे परिणत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसे 'नरमेध' यज्ञ के नाम से प्रख्यात किया जा रहा है। 'सात सौ मुनियों का करुण वध'! आचार्य की आत्मा कराह उठी। स्वय उच्चरित दो शब्दों ने उनकी इस पीड़ा को प्रकट किया। वे चीख उठे 'हा! कष्ट!'

आकस्मिक और करुण स्वर मे कहे गए इन दो शब्दों ने ही अर्धसुप्त क्षुल्लक पुष्पदन्त को चौंका दिया। आश्चर्य की सीमा न रही उनके। आचार्य प्राणान्त तक भी रात्रिभाषण नहीं करते। 'अवश्य कोई असाधारण कारण है' यह सोचते

हुए वे आचार्य के पास दौड़े आए। "देव यह कैसा कष्ट है जिसने आपको इतनी पीड़ा पहुँचाई ?"

क्षुल्लक के प्रश्न के उत्तर मे आचार्य ने सारी कथा सुना दी। क्षुल्लक की आँखों में आँसू आ गए, वे आतुर हो उठे कुछ कर सकने को।

"देव, कोई उपाय है इसके निवारण का" उन्होने प्रार्थना की।

आचार्य के नेत्र दो क्षण के लिये मुँद गए, वे ध्यानस्थ बैठ गए। हर्ष की लाली उनके मुख पर प्रस्फुटित हो गई, बोले "है"

क्षुल्लक की आतुरता बढ़ रही थी, बोले "आज्ञा दीजिए देव ! कैसे सात सौ मुनियो के प्राण बचाए जा सकते हैं।"

"विष्णुकुमार योगी समर्थ है" आचार्य ने प्रशान्त स्वर मे उत्तर दिया।

"कैसे देव" क्षुल्लक ने प्रश्न किया।

"उन्हें विक्रिया शक्ति प्राप्त है' आचार्य ने उत्तर दिया।

"पर वे तो दीक्षित हैं, इस रात्रि मे क्या कर सकते हैं" क्षुल्लक ने निराशा दिखाई।

"वे सब कर सकते हैं, सात सौ मुनियो की रक्षा एक मुनि के चारित्र से लाखगुनी है। उनकी करुण दशा का स्मरण आते ही जब मैं एक विशाल संघ का आचार्य करुणार्द्र हो नियमच्युत हो सकता हूँ तो उनकी रक्षा में समर्थ योगी विष्णुकुमार अपनी तपस्या की बलि नहीं दे सकते ? यदि वे सच्चे योगी हैं तो अवश्य मुँह न मोड़ेंगे। यदि वे तपस्या के लोभ से ऐसा नहीं करते तो वे साधु नहीं पर साधुवेश को कलङ्कित करने वाले महास्वार्थी हैं। मुझे विश्वास है विष्णुकुमार ऐसे नहीं हैं" आचार्य चुप हो गए।

विश्वस्त क्षुल्लक पुष्पदन्त चट आचार्य को मस्तक झुका गगन-मार्ग से चल दिए ।

× × × ×

आप न भूले होंगे कि मुनिवध का प्रयत्न करते हुए चारों मंत्री वनदेवता द्वारा कील दिए गए थे । प्रातः होते ही नगर की जनता ने उन्हें उसी अवस्था में देखा और धिक्कारा । राजा तो उन्हें प्राणदण्ड देने को तैयार हो गया था पर आचार्य ने उन्हें क्षमा करा दिया ।

मुनियों के चरणों में गिरकर राजा ने नगरी की ओर से क्षमा माँगी ।

आचार्य ने समझाया "राजन् यह तो होनहार थी, हो गई । होनी होकर रहेगी, अनहोनी होगी नहीं ।" आचार्य के शीतल अमृततुल्य उपदेश से राजा को शान्ति मिली, उसकी आत्म-ग्लानि दूर हुई ।

नगरनिष्काषित मंत्रीगण क्रमशः हस्तिनापुर पहुँचे । अपने चातुर्य और पाण्डित्य के बल पर उन्होने राजा पद्म के अव्यव-स्थित राज्यकार्य को व्यवस्थित कर, शत्रुओं का दमन कर उसका विश्वास प्राप्त कर लिया । वे मंत्री तो बना ही दिए गए, साथ ही साथ राजा ने उन्हें यथेच्छित वस्तु प्राप्त कर सकने की घोषणा भी की । मंत्रियों ने यह दान उपयुक्त अवसर के लिए रख छोड़ा था । पूर्व मुनिसंघ के हस्तिनागपुर में आ पहुँचने पर मंत्रियों की प्रतिशोधज्वाला प्रज्वलित हो उठी । बदला लेने का उपयुक्त अवसर और साधन सुलभ देख उन्होंने राजा से सात दिनका राज्य माँगकर नरमेध यज्ञ के नाम पर मुनियों को जला डालने की योजना बनाई । राजा इस दुरभिसंधि से

सर्वथा अनजान था, प्रसन्नतापूर्वक उसने मंत्रियों की इच्छानुसार उन्हें सात दिन के लिए राज्याधिकार सौंप दिया। मंत्रियों ने शासन के बलपर अपनी योजना को कार्यान्वित कर दिया। सर्वत्र त्राहि त्राहि मच गई थी। मुनियों के इस असह्य उपसर्ग को देख मनुष्य तो क्या पशु भी विकल हो रहे थे। श्रवण नक्षत्र उसी दृश्य को देख तड़फ उठा था।

× × × ×

"योगिश्रेष्ठ! मुनियों का कष्ट निवारण कीजिए" शिला समान निश्चल योगी विष्णुकुमार के सन्मुख क्षुल्लक पुष्पदन्त ने दीन पुकार की।

योगी की आँखें आश्चर्य से खुल गई। "रक्षा महायोगिन्" क्षुल्लक ने दुहराया।

"कैसी रक्षा बन्धु! किसकी रक्षा?" योगी ने सरलता से प्रश्न किया।

उत्तर में क्षुल्लक ने सारी कथा उन्हें सुनादी।

"पर मैं क्या कर सकता हूँ" अपने को असमर्थ जान विष्णुकुमार दुःखी हुए।

"आप विक्रियाशक्ति समर्थ हैं, योगिवर!" क्षुल्लक ने अचकचाते हुए निवेदन किया।

"विक्रियाशक्ति!" विष्णुकुमार चौंक उठे। उन्हें पता भी न था कि यह महाऋद्धि उन्हें सिद्ध हो गई है। और सच भी तो है दिगम्बर मुनि सांसारिक ऋद्धि और विभव के लिए अपने शरीर को नहीं तपाते। उन्हें तो आत्मसिद्धि चाहिए। वही एक अभिलाषा है, वही एक लक्ष्य है।

शक्ति की परीक्षा कर विश्वस्त योगी प्रसन्न हो आधी रात मुनियों की रक्षा के लिए चल पड़े।

× × × ×

अब हम राजधानी हस्तिनागपुर चलते हैं। जहाँ नरमेध यज्ञ हो रहा है, बड़े बड़े पण्डित और ब्राह्मण एकत्र हैं। वेदपाठ हो रहा है, मंत्रों और स्वाहा की ध्वनि से आकाश गूँज उठा है। यज्ञशाला के द्वार पर ही दानशाला है, राजा बलि स्वयं अपने हाथों याचकों को यथेच्छित लुटा रहा है। इच्छाओं का अन्त नहीं, कोई रुपये माँगता है तो कोई मणिमुक्ता, किसी को हाथी घोड़े प्रिय हैं तो किसी को बड़ी बड़ी जागीरें! बलि हर एक की इच्छा पूर्ण करता है, आज तक कोई याचक असन्तुष्ट नहीं हुआ! सबने अपनी इच्छानुसार पाया।

विष्णुकुमार अपनी ही पुरी मे, अपने भाई के राज्यकाल में मुनियों के इस महान् उपसर्ग से पीड़ित हो उठे। उनकी आँखों से धारा बह चली, आज तक के इतिहास मे इस पुण्यनगरी मे मुनियों के विरुद्ध ऐसा उत्पात कभी नहीं हुआ था। उनने देखा, जनता मुनियों के उपसर्ग से त्रस्त है, वचनबद्ध राजा अपने को असमर्थ जान महलों में छिपा है और दुष्ट बलि अनुकूल अवसर पा अपने विरोध का बदला ले रहा है।

क्षण क्षण युगसा बीत रहा था। योगी विष्णुकुमार एक क्षण भी न ठहर सके, झट वे बौने ब्राह्मण का रूप धारण कर दानशाला के द्वार पर उपस्थित हुए। वेदमंत्रों और स्वस्तिवचनों का वे उच्चारण कर रहे थे। गम्भीर पाण्डित्य का प्रदर्शन उनके दीप्त चेहरे से हो रहा था। बलि इस असाधारण व्यक्ति से प्रभावित हुए बिना न रह सका, झट उठ खड़ा हुआ।

"महाराज आज्ञा दीजिए" उसने प्रणामपूर्वक प्रार्थना की।

अपने कार्य को इतनी आसानी से सम्पन्न होते देख ब्राह्मण अति हर्षित हुआ किन्तु अपनी उत्सुकता को यथासाध्य कृत्रिम गंभीरता और उपेक्षा में छिपाते हुए बोला—"एक छोटी सी कुटिया के लिए तीन पैर पृथ्वी।"

बलि अचम्भे में डूब गया। उसकी दानशाला में आज तक किसी ने इतनी अल्प याचना नहीं की। उसने सोचा, याचक निर्लोभ तपस्वी है। वह मुग्ध हो गया, हाथ बांधे बोला—"महाराज और कुछ मांगिए, मैं सब कुछ दूंगा।"

ब्राह्मण की भौंहें तन गईं, क्रोधमुद्रा धारण करली उसने, तीक्ष्ण स्वर में बोला—"बलि, तुझे अपने राज्य और विभव का घमण्ड है, तू मुझे लोभी समझता है। मुझे नहीं चाहिए तेरा दान।" पैर पटककर ब्राह्मण वहाँ से चल दिया।

राजा भयभीत हो गया, ऐसा असाधारण ब्राह्मण कहीं शाप देदे तो! उसका मस्तिष्क विकल हो उठा। नंगे पैरों ही ब्राह्मण के पीछे दौड़ा, चरणों पर गिर क्षमा याचना करने लगा "क्षमा कीजिए महाराज! मैं सर्वथा तैयार हूँ।"

ब्राह्मण का बनावटी क्रोध धीरे धीरे शान्त हुआ "मैं स्वयं ही नापूंगा" उसने याचना मे परिवर्धन किया।

बलि स्वयं परेशान था, ऐसे योग्य ब्राह्मण को वह कुछ विशिष्ट देना चाहता था पर यह ब्राह्मण भी ऐसा विचित्र कि अधिक कुछ लेने का नाम ही नहीं लेता, तीन पैर पृथ्वी और यह भी इतने छोटे पैरों द्वारा नापी जाए। पर क्या करे वह। "आप हर प्रकार समर्थ हैं महाराज!" कह गंगाजल से उसने संकल्प कर दिया।

संकल्प हुआ नहीं कि वह बौना शरीर असंभावित रूप से बढ़ने लगा। और इतना बढ़ा कि उसका शिर बादलों से टकराने लगा। उपस्थित दर्शकसमूह भयाक्रान्त हो गए, बलि की आँखें फिर गईं, वह चकित हो चित्रलिखित सा रह गया। भीड़ यहां से वहां दौड़ने लगी, यज्ञ कार्य रुक गया।

महाकाय अपने कार्य में व्यस्त था, उसने अपना पहिला पैर उठा कर मेरु पर रखा और दूसरे से मनुष्य-लोक की सीमा को नाप लिया, अब तीसरे को जगह कहाँ ? बलि के राज्य की तो बात ही नहीं सारा मनुष्य लोक नप चुका था।

"बलि, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तीसरे पैर की भूमि का प्रबन्ध करो" महाकाय ने महागर्जन किया।

बलि को कुछ सूझता ही न था कि मैं क्या करूँ। उसे यह सब स्वप्न जैसा प्रतिभासित हो रहा था। महाकाय की महागर्जना से उसकी चेतना सचेत हुई, उसका धैर्य और उसका शौर्य एक साथ ही उद्दीप्त हो उठा। दृढ़ता से उसने जवाब दिया 'मेरा शरीर शेष है !' बलि वचन का पक्का था, 'प्राण जाएँ पर वचन न जाहीं' उसका सिद्धान्त था। कहने के साथ ही उसने अपने शरीर को विछा दिया।

योगी का क्रोध अन्तिम सीमा तक पहुँच चुका था। बलि के हठ ने उसे और भी उद्दीप्त कर दिया। रख ही तो दिया उसने अपना पहाड़-सा तीसरा पैर बलि की असहाय पीठ पर ! कराह उठा बलि, चरमरा गईं उसकी पार्थिव हड्डियाँ ! पृथ्वी काँप उठी। आकाश डोलने लगा। वायु स्थिर हो गया। चारों ओर से 'क्षमा, क्षमा' की पुकारें आने लगीं। हाथ बाँध लोग प्रार्थना करने लगे योगी से। योगी आखिर योगी ही था, उसका क्रोध क्षण भर में ही शान्त हो गया।

उसकी आखें करुणा से आर्द्र हो गईं; शीघ्र ही अपनी माया समेट कर सच्चे रूप में उपस्थित होकर बलि को क्षमा किया। उपस्थित जनता ने 'धन्य, धन्य' और 'जय जय' के नारे लगाए। उपकारग्रस्त बलि भी योगी के चरणों में गिर फूट फूट कर रोने लगा।

यज्ञ का तो कुछ मत पूछिये, उसका तो चिह्न भी नहीं रह गया था। योगी विष्णुकुमार के नेतृत्व मे मुनियों की सुश्रूषा होने लगी। जनता की आन्तरिक पुकार और सेवा से उन्हें स्वास्थ्यलाभ हुआ।

× × ×

नगरी की सारी जनता दूसरे दिन वन में एकत्र हुई। योगी विष्णुकुमार का अभिनन्दन किया गया। योगी ने भी अपनी इस परम तपस्या के अनन्तर पुनः आचार्य अकम्पन से मुनि-दीक्षा ली। इस शुभ अवसर पर आचार्य अकम्पन का अमृत तुल्य उपदेश हुआ। उन्होंने योगी विष्णुकुमार की हृदय से प्रशंसा की। हर एक को आदेश दिया कि धर्म और समाज की विपत्ति-निवारणार्थ अपने वैयक्तिक स्वार्थों को तिलाञ्जलि दें। उनके अन्तिम शब्द थे—"सच्चा वात्सल्य स्वार्थ की अपेक्षा नहीं करता। माता अपने पुत्र के रक्षार्थ अपनी शक्ति नहीं देखती, प्राणों का मोह नहीं करती।"

वात्सल्य-दीक्षा के साक्षीस्वरूप जनता ने अपनी कलाई मे एक बन्धन-सूत्र बांधा जो आगे 'रक्षाबन्धन' कहलाया।

गुरु दक्षिणा

"नहीं, पिताजी ने ऐसा ही बताया था।"

"तुम भूलते हो पर्वत! आचार्यपाद ने ऐसा कभी नहीं कहा।"

"तब तो तुमने पिताजी की शिक्षा ग्रहण ही नहीं की।"

"सो कैसे?"

"यही कि पिता जी ने कहा था—"अजैर्यष्टव्यम्" अज माने बकरा। बकरों के द्वारा यज्ञ—पूजादि विधान करने चाहिये।"

"यही भ्रम तो तुम्हारे मस्तिष्क मे बैठ गया है पर्वत।"

"कौन सा।"

"यह कि तुम्हें अज शब्द के अनेकार्थ मालूम नहीं है। अज का अर्थ होता है तीन वर्ष पुराने व्रीहि।"

"तीन वर्ष पुराने व्रीहि!"

"हाँ मित्र, तीन वर्ष पुराने व्रीहि, जो अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति से वञ्चित हो चुके हो।"

"ऐसा क्यों?"

"हिंसासे बचने के लिये। यज्ञ आदि पुण्यके साधन हैं। वहाँ हिंसारूपी पाप को किञ्चिन्मात्र भी स्थान नहीं है।"

"क्या पूजा जैसे महान् कार्य के लिये थोड़ी सी हिंसा नहीं की जा सकती?"

"नहीं पर्वत! धर्म प्राणीमात्र का हितैषी है। यदि हम अपने पूजाकार्य के लिये अन्य प्राणियों को कष्ट देंगे तो वह धर्म के विरुद्ध आचरण होगा। धर्म ऐसी आज्ञा कभी नहीं दे सकता,

और ऐसा करने पर वह धर्म नहीं रह सकता बल्कि परोक्षरूप से स्वार्थ सिद्धि का साधन बन जाएगा।"

"उसमें कष्ट की बात ही क्या है ! जो पशु यज्ञ के काम आता है वह तो सीधा स्वर्ग जाता है।"

"कैसी बात करते हो पर्वत ! मैं देखता हूँ तुम्हारी मिथ्या-मति तीक्ष्ण होती जा रही है। कैसा वहम घुस गया है तुम्हारे मस्तिष्क में !"

"मैं ठीक कह रहा हूँ नारद ! पिताजी ने यही कहा था। यही अर्थ किया था उस आगम वाक्य का ! मुझे अच्छी तरह याद है। मुझे पिताजी ने सोत्साह विद्या पढ़ाई है। मैं गलत नहीं समझ सकता !"

"तुमने समझा नहीं भाई !"

"मैं ठीक कहता हूँ, यही अर्थ है। 'अजैर्यष्टव्यम्' पशु-गण देवी-देवताओं को प्रिय हैं, उन्हें उनकी सेवा मे अर्पित करना चाहिये, "अजैर्यष्टव्यम्"।

"मुझे विश्वास हो गया पर्वत ! तुम मिथ्यामत का प्रचार करने चले हो। हाँ ....आचार्य ने एक बार कहा भी था किन्तु........."

"किन्तु क्या ?"

"देखो, अपना सहपाठी वसु नृपसिंहासन का अधि-पति है !"

"सो क्या ?"

"उसके सामने भी तो आचार्यपाद ने इस वाक्य का अर्थ बताया था।"

"हाँ ठीक है ! वह राजा भी है, न्यायपति भी है।"

"तो उसी से न्याय कराया जाय; (थोड़ा रुक कर) पर यदि तुम झूठे निकले तो !"

"जो दंडविधान तुम करोगे, मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।"

"अच्छा ·········(सोचकर) जो झूठा निकले उसका जिह्वाछेद हो ताकि वह अपने झूठे वचनों से जनता को हानि न पहुँचा सके। ठीक है न !"

"ठीक कहते हो पर्वत ! मुझे मंजूर है। चलो, कल राजसभा में उपस्थित होंगे।"

नारद और पर्वत गुरुभाई थे। नृपकुमार वसु के साथ दोनों ने ही आचार्यप्रवर क्षीरकदम्ब से शिक्षा प्राप्त की थी। आचार्य पर्वत के पिता थे। पिता होते हुए भी उन्हें पर्वत के प्रति प्रेम न था। उन्होंने अपने अनुभव और विशिष्ट ज्ञान से प्रतीत कर लिया था कि पर्वत कुबुद्धि है। वह असद्धर्म का परिपोषक होगा। आचार्य ने यद्यपि उसकी शिक्षा में किसी प्रकार की त्रुटि न रखी किन्तु वे सदैव यही प्रयत्न करते थे कि किसी प्रकार से पर्वत को पदार्थों का सच्चा रूप दिखाया जा सके। पर्वत को सच्चे धर्म के प्रति आकर्षित करने की पिता की अभिलाषा मन मे ही रह गई। वह अपने पुत्र का सुधार कर पाने के पूर्व ही इस लोक से उठ गये।

× × × ×

तीनों शिष्य क्रमशः युवक हुए। नृपकुमार वसु राजकुल के नियम के अनुसार सिंहासन का अधिकारी हुआ। उसने गुरु से अच्छी शिक्षा पाई थी। प्रजा को अपनी संतान के समान पालन करना उसने अपना कर्तव्य समझा और न्याय को अपना बल। राजा वसु के न्याय और शासन की सर्वत्र धूम थी। प्रजा मे

शान्ति थी। मनुष्यों के हृदयों मे धर्म की भावना थी और मुख पर 'राजा वसु की जय।'

पर्वत अपने पिता की गद्दी का अधिकारी हुआ। अपने पिता के ही समान वह प्रकाण्ड विद्वान् था। वह महान् तार्किक था। शास्त्रों का उसने गहरा अध्ययन किया था। उसके पांडित्य का लोहा देश भर मानता था।

पर्वत के आग्रह से नारद ने एक दिन उसके आश्रम में प्रवेश किया। पर्वत अपनी शिष्यमंडली के बीच उच्चासन पर विराजमान था। शिष्यगण भक्ति और श्रद्धा से नम्रीभूत थे। पर्वत का प्रवचन हो रहा था—"धर्म के सेवन का मुख्य साधन यज्ञ और पूजा से ही हो सकता है। देवगण पूजा से प्रसन्न होते हैं और अपने भक्तों के कष्टों का निवारण करते है। उन्हें उच्च-स्थान देते हैं। कीर्ति और यश देते हैं। धन और धान्य से उनका खजाना भरते हैं। यज्ञ और पूजा करने से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। हर गृहस्थ को पुण्यार्जन और पापप्रणाशन के लिये यज्ञ पूजादि विधिवत् करने चाहिये। देवताओं को बलि समर्पित करना चाहिये। अश्वमेध नरमेध आदि अनेक प्रकार से यज्ञो का विधान किया गया है। ये सभी यज्ञ स्वर्ग के कारण होते हैं। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये उनके मनोनीत पशु भैंसे बकरे और सुअर उन्हें भेंट करना चाहिये। शास्त्रों मे कहा भी है 'अजैर्यष्टव्यम्।'"

'अजैर्यष्टव्यम्' नारद ने सुना। चेहरा उसका कुम्हला गया। 'अजैर्यष्टव्यम्' का यह अर्थ! पर्वत के मुख से ऐसा विरुद्ध अर्थ सुनकर नारद भौंचक्का सा रह गया। उसे विश्वास नहीं होता था कि वह चेतनावस्था मे है। क्या यह सच है कि उसके कानों ने पर्वत के मुख से यह अर्थ सुना है? नहीं! ऐसा नहीं हो

सकता ! पर्वत पंडित है ! उसका गुरु-भाई है । आचार्य ने दोनों को एक साथ ही शिक्षा दी है ! हो सकता है यह उसके कानों का भ्रम हो ! ऐसा सोच नारद ने अपनी शंका निवारणार्थ पर्वत से प्रश्न किया "क्या यह सच है कि तुमने ऐसा अर्थ कहा है ?"

इसके आगे का हाल पाठकों को प्रारम्भ मे ही मालूम हो चुका है ।

× × × ×

नारद को विदा कर पर्वत ने गृह की ओर प्रस्थान किया । उसे अपने पांडित्य पर विश्वास था । वह अहंवादी था । उसे गर्व था कि मुझ जैसा पंडित पुरी भर में दूसरा नहीं है । फिर यह तुच्छ नारद जो मेरे पिता के टुकड़ो से पला और उन्हीं द्वारा प्रदत्त विद्या से कुछ समझने लगा, कैसे मेरी समानता कर सकता है । वह मन ही मन फूला जा रहा था । कल राजसभा मे शास्त्रार्थ होगा जिसमे उसकी जय होगी और नारद की पराजय ! शर्त के अनुसार नारद का जिह्वाछेद होगा और उसका होगा आदर ! सम्मान ! पूजा !

इसी प्रकार सोचता पर्वत घर पहुँचा । बेटे को प्रसन्न देख मां न रह सकी, प्रसन्नता का कारण जानने के लिए पूछ ही बैठी "क्या बात है पर्वत, आज तो फूला नहीं समा रहा है ?"

"कुछ न पूछो मां, कल राजसभा मे जाना है" पर्वत ने गर्व से कहा ।

"क्यो ? राजा वसु ने निमन्त्रित किया होगा । बड़ा नम्र बालक था वह, "मां मा" कहता हुआ मेरी गोद मे आ बैठता था । मैंने भी उसे बहुत दिनों से नहीं देखा, कल मैं भी चलूगी तेरे साथ ।" माँ बोली ।

"नहीं मां, कल शास्त्रार्थ होगा। मेरा और नारद का" गर्व मिश्रित भाषा में पर्वत बोला।

"नारद का ?" मां विस्मित हो उठीं।

"हॉं हॉं, मेरा नारद के साथ। जो हारेगा उसकी जीभ काट डाली जायगी" पर्वत ने उत्तर दिया।

"जिह्वाछेद होगा ! यह कैसा शास्त्रार्थ है बेटा, और नारद के साथ ?" मां की जिज्ञासा बढ़ी।

"आजकल उसे अपनी विद्वत्ताका बड़ा घमंड हो गया है। कहता है "अजैर्यष्टव्यम्" का अर्थ है तीन वर्ष पुराने व्रीहि से पूजा करनी चाहिए। मैंने कहा—'नहीं' अज शब्द का अर्थ है बकरा। बस झगड़ बैठा, कल राजा वसु इसका निर्णय करेगा। पिताजी ने भी ऐसा ही कहा था मां" पर्वत ने अपनी निर्दोषता प्रगट की।

"तूने यह क्या किया पर्वत ?" मां विकल हो उठीं।

"क्यों मां ?" पर्वत मां के मुख की ओर निहारने लगा।

"बेटा, तुमने भूल की। नारद ठीक कहता है। तुम्हारे पिताजी ने भी वैसा ही कहा था। जब तुम पढ़ते थे मैं सुना करती थी, मुझे अच्छी तरह याद है" मां दुःखित थीं।

"क्या मां ?" पर्वत अप्रतिभ हो चला।

"उन्होंने वही कहा था जो नारद कहता है" मां ने जवाब दिया।

"मां" पर्वत का चेहरा फक पड़ गया।

"बेटा, कितनी भारी भूल की है तुमने। तुम्हारे पिता कहते थे नारद तीक्ष्णबुद्धि है। बिना समझे ही तुम झगड़ा मोल ले बैठे। दण्डविधान भी अपने ही द्वारा कर लिया" मां के नेत्रों में आँसू छलकने लगे।

"किन्तु माँ, शास्त्रों मे तो···" पर्वत सिर झुकाए कुछ कहना ही चाहता था कि—

"चूल्हे मे जॉय तुम्हारे शास्त्र, तुमने कुछ नहीं पढ़ा" मां ने रोषमिश्रित वाणी में प्रताड़ना की।

"फिर माँ" पर्वत ने दीनता प्रकट की।

"फिर" मां दो क्षण चुप रही। "वसु निर्णय करेगा यही न, अच्छा" उसने धीमे से कहा।

"क्या माँ" पर्वत ने सिर उठाया।

"कल मैं प्रातः ही वसु के पास जाऊँगी और किसी तरह तेरी रक्षा का उपाय करूँगी।"

"पर्वत मेरा बेटा है", वह सोचती रही—"उसका अपमान मेरा अपमान है, मेरे पति का अपमान है, उसकी मृत्यु मेरी मृत्यु है। मेरा बेटा पर्वत, मैं उसके लिये सब कुछ करूंगी, धर्म अधर्म कुछ न विचारूंगी। पर्वत जा तू! कल सभा मे तेरी विजय होगी। जा बेटा" माँ का वात्सल्य उमड़ आया था।

पर्वत सिर झुकाए चला गया। मां हाथ पर मस्तक टेक बैठ गई।

× × ×

प्रथम प्रहर का समय था। प्रतीहारी ने निवेदन किया, "गुरुपत्नी पधारी हैं"। वसु प्रमुदित हो उठा। गुरुपत्नी का दर्शन देना सौभाग्य की बात थी, आज्ञा दी "सादर लिवा लाओ" और स्वय भी सेवा के लिये तैयार हो गया। गुरुपत्नी ने प्रवेश किया, 'माँ' कहता हुआ वसु चरणों पर गिर पड़ा, माँ ने आशीर्वचन कहे। उच्चासन देकर वसु ने कुशल पूछी, माँ ने वाञ्छनीय उत्तर दिए।

"आज कैसे कष्ट किया मां ?" वसु ने नम्रतापूर्वक प्रश्न किया।

"अपने बेटे को देखने के लिए" मां ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया।

वसु लज्जित हो गया। उसे कोई उत्तर न सूझा, झेंप मिटाने के लिए बोला "मैं स्वयं उपस्थित हो सकता था"।

माँ बोली "नहीं ! राजा का समय अमूल्य होता है। मैंने सोचा, स्वयं ही तुमसे मिल लूं।"

"यह आप की कृपा है माँ" वसु ने कृतज्ञता की मुद्रा में कहा "मैं आप की क्या सेवा कर सकता हूँ"।

"मुझे तेरा स्नेह ही बहुत है वसु, और कुछ न चाहिए" माँ ने उपेक्षा प्रदर्शित की।

"फिर भी माँ, मेरा कर्तव्य···" वसु ने विनय प्रगट की।

"तुमने अपना कर्तव्य निबाहा ही कब है, मेरी गुरुदक्षिणा भी नहीं दी" मां ने मुस्कुराते हुए कहा।

वसु ने समझा, माँ परिहास कर रही हैं, बोला "सभी कुछ आप का ही तो है माँ !"

माँ को यदि पर्वत की प्राणरक्षा अपेक्षित न होती तो सच-मुच यह परिहास ही था। वसु के अनेक निवेदन करने पर भी माँ ने कभी गुरुदक्षिणा स्वीकार न की थी किन्तु आज अपने पुत्र की मानरक्षा की भावना ने उस वाक्य को असह्य सत्य बना दिया। माँ ने सरलता से काम बना लिया। तार्किक की पत्नी अपने दाँवपेच में दक्ष निकली, वे बोलीं—"देखो वसु ! आज सचमुच मैं गुरुदक्षिणा लेने आयी हूँ।"

वसु हाथ जोड़कर बोला "आज्ञा दीजिये माँ ! मैं हर आवश्यकता पूरी करूंगा। मैं वचनबद्ध हूँ।"

माँ की आखों में आँसू आ गये, बोलीं—"बेटा वसु ! तुम राजा हो। राजमुकुट तुम्हारे मस्तक पर शोभित है। न्याय तुम्हारे हाथ में है। मैं जानती हूँ, यह अन्याय होगा। इसमें तुम्हारे कर्त्तव्य की हानि होगी। किन्तु ..." माँ इसके आगे कुछ न कह सकीं। उनका गला भर आया।

"कहो, कहो माँ, मैं सब कुछ करूँगा। तुम्हारी आज्ञा का पालन मैं प्राणान्त तक करूँगा" वसु उत्तेजित हो उठा।

"तो सुनो बेटा" माँ कहने लगीं "नारद और पर्वत आज राजसभा मे शास्त्रार्थ के लिये आएंगे, तुम्हें पर्वत की मान-रक्षा करनी होगी" माँ ने आज्ञा देते हुए उत्तर दिया।

"सो कैसे माँ ?" वसु ने प्रश्न किया।

माँ बोली—"अजैर्यष्टव्यम्" के अर्थ पर दोनों में विवाद हो गया है। मैं जानती हूँ पर्वत का पक्ष ठीक नहीं है, फिर भी बेटा! वह मेरा पुत्र है। उसकी पराजय मेरी और तुम्हारे गुरु की प्रतिष्ठा मे बाधक होगी। इसलिये मेरे लिये और मेरे पति के लिये तुम्हें मेरे पुत्र की रक्षा करनी होगी। उसकी जय घोषित करनी होगी। समझे वसु" माँ ने जोर दिया।

"किन्तु माँ !"

"किन्तु परन्तु कुछ नहीं। यही मेरी गुरुदक्षिणा है।" कहती हुई माँ प्रस्थान कर गई। वसु चिन्तित बैठा ही रह गया।

× × ×

राजसभाभवन ठसाठस भरा हुआ था। प्रजा इस शास्त्रार्थ को देखने के लिये अत्यन्त उतावली हो रही थी। लोग जिज्ञासु थे वसु के निर्णय के। सर्वत्र विभिन्न मतों की पुष्टि और समर्थन हो रहे थे। पर्वत और नारद दोनों एक गुरु के चेले, दोनों के

पांडित्य पर लोगों को श्रद्धा थी। आज दोनों मे शास्त्रार्थ होगा, यही दर्शनीय बात थी।

'महाराज वसु की जय'-के नारे के साथ राजा सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वादी प्रतिवादी उपस्थित हुए। नारद का मुख-मण्डल दमक रहा था, वह प्रसन्न था। उसे विश्वास था कि उसका कथन सत्य है। "सत्य की सर्वत्र विजय होती है। राजा वसु न्याय का अधिपति है। उसके न्याय की सर्वत्र धूम है। वह सत्य निर्णय देगा। लोगों मे सद्धर्म की वृद्धि होगी।" नारद यह सोच रहा था, किन्तु उसे पता न था कि पर्दे के पीछे क्या हो चुका है। और पर्वत! उसकी भी सुन लीजिये। कुम्हलाये हुए पुष्प की भाँति उदास था उसका चेहरा। सदा उत्तेजित रहने-वाला पर्वत आज गम्भीर बना हुआ है, यह लोगों के आश्चर्य का कारण बन गया। यद्यपि मां ने उसे सब समझा दिया था, ढाढस बंधाया था पर वह कॉप रहा था। उसे विश्वास ही न होता था कि वसु जैसा न्यायी राजा आज असत्य का समर्थन करेगा।

+ + + +

वादी और प्रतिवादी अपने पक्ष का समर्थन कर चुके। मन्त्री ने निवेदन किया "वादी और प्रतिवादी महाराज का निर्णय चाहते है।" वसु चौंक उठा जैसे किसी ने अकस्मात् गाढ़-निद्रा से जगा दिया हो। "निर्णय" उसने पूछा।

"हॉं महाराज! निर्णय" मन्त्री ने निवेदन किया।

"निर्णय! हाँ, पर्वत का पक्ष ठीक है।" उसने अनायास ही कहा।

'महाराज' नारद ने आपत्ति की।

"हाँ, आचार्य ने ऐसा ही कहा था ! पर्वत का पक्ष ठीक है। मैं निर्णय देता हूँ !" वसु गरज उठा ! वसु की गर्जन के साथ एक और विकट गर्जन सुनाई दी जिससे लोकसमूह कम्पित हो उठा ! अकस्मात् पृथ्वी काँपने लगी और वसु का सिंहासन डोलने लगा। नारद चिल्लाया—"वसु ! अपने पद की ओर ध्यान दो ! तुम राजा हो ! न्यायपति हो !"

"मैं निर्णय देता हूँ, पर्वत का पक्ष ठीक है, उसका कथन सत्य है, यज्ञादि कार्य के लिये आचार्य ने अज शब्द का अर्थ बकरा ही कहा था।" वसु के अन्तिम वाक्य के साथ एक विचित्र कोलाहल सुनाई दिया। पृथ्वी काँप उठी और वसु सिंहासन सहित मञ्च से नीचे आ पड़ा।

नारद चिल्ला उठा—"वसु अभी भी समय है, सम्हलो; तुम राजा हो, सोचो, तुम्हारे ये असत्य वचन भोली जनता का कितना अपकार करेंगे। उन्हें अन्याय की ओर प्रवृत्त करेंगे। उनके हृदयो मे असद्भावनाओं के बीज वपन करेंगे और काल पाकर वे बीज अंकुरित होकर विशाल वृक्ष का रूप धारण करेंगे और अपनी जड़ो को सर्वत्र फैलाकर मोटी और मजबूत बना लेंगे और फिर जानते हो क्या होगा ? होगा सर्वत्र हाहाकार ! धर्म का लोप हो जाएगा। अधर्म का साम्राज्य छा जाएगा, त्राहि त्राहि का करुणाक्रन्दन सर्वत्र सुनाई देगा ! नर पशु बन जाएगे; हिंसा प्रबल अस्त्र हो जाएगा और···मानवता का ससार से लोप हो जावेगा, दानवता अट्टहास करती हुई ताण्डव नाचेगी। और जानते हो इन अत्याचारों का कारण कौन होगा ? तुम ! न्यायासन पर बैठकर असत्यभाषण करने वाले तुम ! वसु, सम्हलो, सोचो ! तुम्हारे ये वचन भविष्य में क्या करेंगे, जरा विचारो, मित्र, अभी समय है" नारद विकल हो रहा था

वसु की दशा देखकर, अपने मित्र की दयनीय हालत उसे असहनीय थी। उसने वसु को समझाया—बुझाया—भय दिखाया। किन्तु वसु, बेचारा वसु, अपनी रक्षा न कर सका। देश भर की रक्षा का दम भरनेवाला नृपति आज अपने को निस्सहाय अनुभव कर रहा था, वेदना और आत्मग्लानि में गला जा रहा था। गुरुपत्नी की आज्ञा उसके सिर पर सवार थी। वह क्षत्रिय था, वचन का पक्का था, 'प्राण जाय पर वचन न जाई' उसके कुल का नियम था। एक बार फिर शब्द एकत्र कर बोला—"पर्वत का पक्ष ठीक है, मैं निर्णय देता हूँ।"

भारी कम्पन के साथ पृथ्वी फटी और वसु सिंहासन सहित उसमें समा गया।

लोगों ने कहा 'असत्य भाषण का फल पाया।'

निर्दोष

सायंकालीन सुषमा चारों ओर बिखरी हुई थी। पश्चिम के प्रॉगण में केशर किरणों का जाल बिछा हुआ था, गगन अनुराग-रंजित प्रतिभासित हो रहा था और पर्वतशृंखलाएं अपने भाल उन्नत किए क्षितिज के छोर पर उससे गले मिल रहीं थीं।

उन्मना रानी विलासवती विलासभवन के वातायन में खड़ी राजमार्ग की ओर अलस दृष्टि से देख रही थी। चारों ओर सुहावनापन बिखरा पड़ा था और प्रसन्नवदन नरनारियों के जोड़े यहाँ से वहाँ पर्यटन कर रहे थे। 'कितने सुखी हैं ये!' कहकर रानी ने गहरी सांस ली और पुनः स्वस्थ हो अपने पूर्व कार्य में लग गई। मन्द पवन के झोके कभी कभी उसके अलक-जाल को बिखेर देते थे और वह उन्हें अपनी कोमल अंगुलियो के सहारे बार बार सम्हालती हुई मुस्कुरा देती थी।

चारों ओर घूमती हुई रानी की दृष्टि अचानक एक युवक पर स्थिर हो गई। वह कामदेव सा सुन्दर और शिशु सा भोला था, सौजन्य उसके चेहरे से टपकता था। वह मार्ग के एक ओर से अधोदृष्टि किए चला जा रहा था। रानी मुग्ध हो गई उसके निष्कलुष सौंदर्य पर। "कितना सुन्दर! कितना भोला!" अनायास ही उसके मुख से स्फुटित हुआ। समीपस्थ दासियाँ कुछ भी न समझ सकीं और रानी के इन शब्दों पर उन्हें आश्चर्य हुआ।

"चित्ररेखा, वह युवक कौन है?" युवक की ओर इंगित करके रानी ने पास में खड़ी दासी चित्ररेखा से प्रश्न किया।

चित्ररेखा सभी दासियों में विशेष चतुर मानी जाती थी, उसकी गर्वोक्ति थी कि मैं आकाश के तारे भी तोड़ ला सकती हूँ।

"श्रेष्ठिपुत्र सुदर्शन" दूसरे क्षण उसने उत्तर दिया।

रानी इससे आगे कुछ न पूछ सकी। उसका मन और हृदय दोनो सुदर्शन में अनुरक्त हो गए थे, उसके मुखमंडल की आभा क्रमशः फीकी पड़ने लगी और उसकी उदासी बढ़ गई।

दासी चतुर थी। रानी की मनोविक्रिया उससे न छिप सकी।

"महारानी, आपका मन······"कहते कहते वह रुक गई।

"कुछ नहीं चित्र रेखा" रानी ने मुँह फेर लिया।

"कुछ अवश्य है महारानी" दासी ने गहरे पैठने का प्रयत्न किया।

रानी अब आपे में न रह सकी और चित्ररेखा को एकान्त मे ले जाकर उसने अपनी मनोव्यथा सुना ही दी।

"चिन्ता न करें महारानी" चित्ररेखा ने अपनी योग्यता की ओर संकेत किया।

"चित्ररेखा, मेरी कामना···" कहते कहते रानी रुक गई।

"पूरी होगी महारानी" चित्ररेखा ने पूर्ति की "मेरा प्रयत्न कभी विफल नहीं होता" उसने आगे कहा।

"रहस्य रहस्य ही बना रहे चित्ररेखा" रानी ने सतर्क होकर कार्य करने का संकेत किया।

"आप निश्चिन्त रहें महारानी, किसी को कानों खबर भी न होगी" चित्ररेखा अपनी सिद्धिकामना करती हुई चल दी।

× × × ×

रात्रि का द्वितीय प्रहर। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। विलासभवन विभव की पूर्णता को अपने में छिपाए खड़ा था। रानी का मन नाच रहा था, आज उसने अपने को रति सा सजा लिया था।

सुदर्शन को रानी के प्रकोष्ठ में पहुँचाकर चित्ररेखा वापिस लौट गई। रानी ने उठकर सुदर्शन का स्वागत किया।

"इतनी रात बीते मुझे कैसे स्मरण किया महारानी ?" रानी की मुखमद्रा से शंकित सुदर्शन ने प्रश्न किया।

"स्वागत श्रेष्ठिपुत्र" आगे बढ़कर मधुर हास्य के साथ रानी ने सुदर्शन का हाथ अपने हाथों में ले लिया। सुदर्शन का शरीर काँप उठा, बिजली दौड़ गई उसके शरीर मे, परस्त्री के करस्पर्श का अनुभव जीवन मे आज ही हुआ था। वह आशंकित हो गया।

"नहीं" उसके काँपते ओठो से एक ही शब्द निकला। वह दो डग पीछे हट गया।

"त्रस्त क्यों हो सुदर्शन, तुम्हारे शरीर मे कम्प क्यों हो रहा है" रानी ने उसे ढाढ़स बंधाना चाहा।

"मैं पुरुष हूँ महारानी, इस रात मे परस्त्री के पास मेरी स्थिति आशंका से खाली नहीं है।" सुदर्शन मे दृढ़ता आ चली थी।

"यही तो मैं कहती हूँ, तुम पुरुष हो और मैं स्त्री, हम दोनो अधूरे हैं" रानी की चंचलता तरल हो रही थी।

"आप परस्त्री हैं" सुदर्शन ने निवेदन किया।

"तुम भूलते हो सुदर्शन, पर और स्व का भेद हृदय करता है, मैं तुम्हें हृदय से प्रेम करती हूँ" रानी ने दीनस्वर में प्रार्थना की।

"यह असम्भव है, मैं आपकी प्रजा हूँ महारानी, आप मेरी माता हैं" सुदर्शन ने उत्तर दिया।

"आदर्श को छोड़ कर यथार्थ की भूमि पर उतरो सुदर्शन" सुदर्शन के और समीप आकर रानी ने उसे समझाने का प्रयत्न किया।

"यथार्थ क्या है महारानी ?" सुदर्शन ने पूछा।

"तुम पुरुष हो और मैं स्त्री, इससे परे कुछ नहीं" रानी ने उत्तर दिया।

"मात्र इतना ही सत्य नहीं है महारानी, लोकव्यवस्था इसे स्वीकार नहीं कर सकती" सुदर्शन ने विरोध किया।

"उसे ठुकरादो" रानी बोली।

"धर्म का बन्धन" सुदर्शन ने धर्म की दुहाई दी।

"उसे तोड़ दो" रानी निश्चल रही।

"मेरी आत्मा इसे स्वीकार नहीं कर सकती महारानी" सुदर्शन ने अपनी असमर्थता प्रगट की।

"आह !" रानी को चोट लगी। "तुम कितने नृशंस हो सुदर्शन ! कैसी है तुम्हारी आत्मा, जो दूसरी आत्मा की प्रार्थना को ठुकरा देती है" उसकी आँखो में आँसू आ गए।

दो क्षण दोनों चुप रहे।

"मैं जाऊँ महारानी" सुदर्शन ने आज्ञा माँगी।

"तुम भूल रहे हो सुदर्शन, तुम नहीं जानते, मैं तुम्हें कितना प्यार करती हूँ" रानी ने रोते रोते कहा।

"मैं कृतज्ञ हूँ महारानी" सुदर्शन ने सरल उत्तर दिया।

"निष्ठुर ! मेरे प्रेम को ठुकरा कर कहते हो 'मैं कृतज्ञ हूँ' नीच ! पापी !" रानी का स्वर तीव्र हो चला।

"मैं निर्दोष हूँ महारानी" सुदर्शन ने सफाई पेश की।

"एक नारी का हृदय कुचलते हुए तुम्हारा हृदय नहीं काँपता निर्मम ?" रानी ने आगे कहा।

"मैं विवश हूँ" सुदर्शन ने क्षमा माँगी।

"तो तुम्हारा यह अंतिम निर्णय है ?" रानी के नथुने काँपने लगे।

"हाँ महारानी" उसने उत्तर दिया।

"स्मरण रखो, तुम एक नारी की कामनाओं को कुचल रहे हो" रानी ने फिर ताड़ना की।

सुदर्शन चुप रहा।

"तुमने मेरे प्रेमका तिरस्कार किया है सुदर्शन" रानी बक रही थी "तुमने मेरा प्रेम देखा, अब उसके तिरस्कार का प्रतिशोध देखो, और अपनी अबोध करनी का फल भोगो।"

रानी का चण्ड रूप देखकर सुदर्शन भय से त्रस्त हो उठा। अब वह साक्षात् कालिका का अवतार बन गई थी, क्रोध से उसके अंग काँप रहे थे, दन्तश्रृंखला अपने में ही टकराकर रुद्र रव कर रही थी। रानी प्रेम का तिरस्कार करनेवाले भोले युवक को कठोर दण्ड देने का उपक्रम कर रही थी।

"दासी" उसने भीषण स्वर में पुकारा। चारों ओर से दासियों का झुण्ड इकट्ठा हो गया। रानी का विकराल रूप देख वे डर गईं।

"महाराज को सूचना दो, यह नीच मुझ से बलात्कार करना चाहता था" रानी ने आज्ञा दी।

दासियाँ महाराज को सूचना देने दौड़ीं पर सुदर्शन अभी भी चुप खड़ा था, नारी के इस आकस्मिक परिवर्तन पर उसे आश्चर्य हो रहा था।

"सुदर्शन, अपने पाप का फल भोगने को
से ज्वाला बरसाते हुए रानी ने चेतावनी दी
"नारी, तू दानवी है" सुदर्शन ने उत्तेजि
दिया।

+ + +

राजमहल मे घुस कर महारानी के साथ
चेष्टा करने के अपराध मे सुदर्शन को प्राणदण्ड
उसने अन्तिम क्षण तक अपने को निर्दोष
बीते महारानी के प्रकोष्ठ मे पकड़े गए व्य
विश्वास कैसे किया जा सकता था।

वधस्थान पर नागरिकों का जमघट थ
तड़फते हुए मरते देखने की अभिलाषा लिए
रहा था। सुदर्शन के पूर्व जीवन पर वि
उसके इस कृत्य पर घृणा से नाकभौं सिकोड़
करते थे।

निश्चित समय पर चाण्डालों से वि
सुदर्शन वधस्थान पर उपस्थित किया गय
मुँह फेर लिए। 'वध करो', 'धिक्कार' के भ
ओर गूँजने लगे।

"नागरिको, मै निर्दोष हूँ" सुदर्शन ने
सम्मुख अपना वक्तव्य दुहराया। उत्तर में
और हास्य के स्वर सुनाई पड़े। "धिक
आवाजें आने लगीं।

चाण्डाल के सबल हाथों में भारी खड्ग चमका। जनसमूह क्षण भर के लिए त्रस्त हो गया पर चाण्डाल को इसकी चिन्ता न थी। उसने पूरे बल के साथ चला ही तो दिया वह खड्ग सुदर्शन की झुकी गर्दन पर। लोगों ने सोचा 'काम तमाम हुआ' 'बेचारे श्रेष्ठिपुत्र के जीवन का अन्त हुआ'। पर उनके आश्चर्य का पार न रहा जब वह खड्ग पुष्पमाला बन कर सुदर्शन के गले में लिपट गया। चाण्डाल स्वयं चकित था, वह घबड़ा सा गया था कि उसके खड्ग को हुआ क्या ? आज तक उसने ऐसी घटना नहीं देखी थी।

नागरिकों को सुदर्शन के निर्दोष होने में जरासा भी संशय न रहा। अपार जनसमूह प्रसन्न हो उठा। "छोड़ दो" "छोड़ दो" "धन्य" "धन्य" के साधुवाद चारों ओर से बरसने लगे।

सुदर्शन को इस आकस्मिक घटना की कोई खबर ही न थी। वह तो जीवन से निराश हो चुका था और संसार की विकट विडम्बना पर विचार करता हुआ शरीरत्याग के लिए प्रस्तुत था। जन समूह के साधुवादों से उसका ध्यान भंग हुआ। उसने आँखे खोलीं तो दर्शकों को अपना अभिनन्दन करते पाया। चारों ओर से उस पर पुष्पवृष्टि हो रही थी और सामने खड़े महाराज, मन्त्रिगण और सामन्त उससे क्षमा माँग रहे थे और अपनी भूल पर पश्चात्ताप प्रगट कर रहे थे।

एक ओर से रानी विलासवती आकर सुदर्शन के चरणों में गिर पड़ी।

"मुझ पापिनी को क्षमा करो सुदर्शन" उसने प्रार्थना की।

"माँ, मैं निर्दोष हूँ" सुदर्शन ने उसे आदर सहित उठाया।

जनता ने अपार हर्षध्वनि की।

आत्मा की शक्ति

तपस्वी समन्तभद्र तप और ज्ञान दोनों में अद्वितीय थे, उनकी तर्कणाशक्ति और निष्पक्ष विवेचन के आगे दार्शनिक जगत मस्तक झुकाता था। उनकी दार्शनिक प्रतिज्ञाएँ निर्दोष और अव्यभिचरित होती थीं। तप के तेज से उनका शरीर प्रदीप्त था और उनके मुखमण्डल से ओज की किरणें छिटकती थीं। पशु और पक्षी भी उनके समव्यवहार से प्रभावित थे और घन्टों उनके समीप क्रीड़ा करते थे।

यद्यपि उन्होंने अपना जीवन स्व और पर कल्याण के लिए अर्पित कर दिया था पर नियति का चक्र अच्छे और बुरे का भेद नहीं सोचता, लघु और महान में उसकी समान रुचि होती है, समता का सच्चा उदाहरण उसमें ही देखा जा सकता है।

तपस्वी के तप और जनकल्याण में बाधा उपस्थित हुई। अत्यन्त त्रासद भस्मक व्याधि से वे त्रस्त हो उठे। शरीरस्थिति के लिए गृहीत भोजन शरीर को कुछ भी न दे सकता था और उनका शरीर दिनों दिन क्षीण होने लगा। इस आकस्मिक उपसर्ग से तपस्वी चिन्तित हो उठे, उनके सामने दो ही मार्ग थे, शरीर-त्याग या व्रतत्याग। तपस्वी के व्रतत्याग का अर्थ होता है उसकी आध्यात्मिक मृत्यु। प्राणान्त तक भी सच्चा तपस्वी व्रतभंग नहीं करता। सच तो यह है कि वह उसे ही अपने प्राण मानता है।

व्याधि से त्रस्त समन्तभद्र शरीररक्षा के उपाय के अभाव में शरीर त्याग के लिए सन्नद्ध हो आचार्य की सेवा में उपस्थित हुए।

"यह व्याधि अब शान्त न होगी स्वामिन्" गुरु के चरणों मे मस्तक झुकाकर उनने निवेदन किया।

"धैर्य धरो वत्स, गृहत्यागियों को इस प्रकार उद्विग्न न होना चाहिए" आचार्य ने शान्त स्वर मे कहा।

"मैं समाधि का अभिलाषी हूँ गुरुदेव" तपस्वी ने अपना उद्देश्य प्रकट किया।

"नहीं वत्स, अभी वह समय नहीं आया" गुरु ने उत्तर दिया।

"क्या यह विकट व्याधि इसका प्रमाण नहीं है स्वामिन्" आचार्य के उत्तर से तपस्वी को आश्चर्य हुआ।

"नहीं" गुरु ने दृढ़ स्वर में कहा "मेरी अंतरात्मा कहती है कि तुम्हारी आयु बहुशेष है।"

"पर व्याधि का संकेत स्पष्ट है गुरुदेव" तपस्वी अधीर हो चला।

"तुम इसे शान्त करने की चेष्टा करो" आचार्य ने समझाया।

"तो क्या मैं दिगम्बर वेष को दूषित करूँ" ?" तपस्वी घबड़ाया।

"नहीं, उसे दूषित होने की आवश्यकता नहीं, तुम्हें उसे त्यागना होगा" आचार्य ने रास्ता दिखाया।

"दिगम्बर वेष का त्याग !" तपस्वी चकित हो गया "ऐसी कठोर आज्ञा न दीजिए गुरुदेव" उसने दीनस्वर मे प्रार्थना की।

"यह आज्ञा नहीं; सम्मति है वत्स" गुरु बोले।

"मैं दुर्बल हूँ स्वामिन्, रत्न को पाकर फेंकने की सामर्थ्य मुझ में कहाँ" तपस्वी ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की।

"मेरी सम्मति बहुविचारसापेक्ष है वत्स, तुम्हें उसे स्वीकार

करना चाहिए। दिगम्बर वेष की स्थायी रक्षा के लिए तुम उसे वर्तमान में त्याग दो" आचार्य ने गम्भीर होकर कहा।

"समाधि से मेरा कल्याण सम्भाव्य है" तपस्वी ने फिर आपत्ति उपस्थित की।"

"किन्तु वेषत्याग से लोककल्याण निश्चित है। तुम्हारा जीवन लोककल्याण के लिए है उसे व्यर्थ नष्ट करने का तुम्हें अधिकार नहीं, इसे जानते हो ?" आचार्य ने शासक स्वर में कहा और इसके आगे तपस्वी को समझाते हुए वे बोले "स्वार्थ का इतना मोह नहीं छोड़ सकते तुम ?"

"मैं प्रस्तुत हूँ स्वामिन् पर भविष्य......" तपस्वी कहते कहते रुक गया।

"भविष्य कल्याणकारी है" गुरु ने वरदान दिया।

"जो आज्ञा" तपस्वी ने मस्तक टेक दिया।

"आत्मा अनन्तशक्तिशील है, इसे सदा स्मरण रखना वत्स" अभय हस्त की शीतल छाया मे तपस्वी ने गुरु का आशीर्वाद ग्रहण किया और चल दिया।

+ + + +

क्षीणकाय तपस्वी तप और सयम को त्याग कर यहाँ वहाँ भटकने लगा। क्षुधा कहती थी 'मुझे तीन लोक का खाद्य भेंट करो, तपस्वी कहता था 'शान्त हो'। दोनों का सघर्ष हुआ। तपस्वी ने कहा 'अच्छा न मान, अब मैं तेरी तृप्ति कर ही तुझे शान्त करूँगा, खाद्य, अखाद्य, तृण, पत्ते, मिट्टी, सभी कुछ भेंट करूँगा और देखूँगा कि तू तृप्त होती है या नहीं। तू मुझे भस्म करना चाहती है पर मैं तुझे भस्म करूँगा। मेरी अनन्त शक्ति के आगे तेरी क्या हस्ती !'

आचारभ्रष्ट तपस्वी येनकेनप्रकारेण उदरपूर्ति करने लगा। जो कुछ भी, जहाँ कहीं भी, मिल जाता, पेट को भेंट करता। पेड़ के पत्ते, पृथ्वी की मिट्टी और नदियों का यथेष्ट जल पीकर उसने कितने ही मास बिता दिए पर व्याधि का वेग रञ्चमात्र भी कम न हुआ।

× × × ×

देवेश्वर महादेव का विशाल मन्दिर घंटाध्वनि से गूँज रहा था, पुजारियों का मधुर स्वर भक्तों की भीड़ को मुग्ध कर रहा था और नरनारियों के झुंड भगवान शिव जी की भक्ति मे तल्लीन थे।

आज विशेष उत्सव का दिन था। राजा शिवकोटि देवेश्वर के दर्शन करने आया था। 'महाराज शिवकोटि की जय' के शब्दों से मदिर गूँज उठा, पुजारियों ने घण्टाध्वनि तीव्र की और भक्ति मे लीन राजा अष्टाग विनीत हो सतत अभिषिक्त शिवलिंग के संमुख गिर पड़ा। दासों ने नैवेद्य के थाल संमुख रख दिए, पूजा हुई, आरती के छन्द वायु मे गूँजने लगे और भक्ति का वातावरण छा गया।

क्रमश पूजा समाप्त हुई और भिक्षुकों को यथेच्छ भिक्षा दे राजा लौटने लगा।

"किसी भक्त की भक्ति मे इतनी सामर्थ्य नहीं कि शिवजी को भोग लगा सके ?" पास ही खड़े एक परिव्राजक ने मंद स्वर मे कहा। लौटते राजा के कानों में ये शब्द पड़े और वह रुक गया। परिव्राजक का दीप्त चेहरा देख वह मुग्ध हो गया, और उसे कोई सिद्ध पुरुष मान नमस्कार कर बोला, "महाराज, आप समर्थ हैं क्या ?"

"निस्संदेह !" परिव्राजक ने दृढ़ उत्तर दिया।

"तो मेरी प्रार्थना स्वीकृत कीजिए, शिवजी को तृप्त कीजिए" राजा ने परिव्राजक से याचना की।

उपस्थित पुजारियों का दल आश्चर्य से स्तब्ध था, भक्त प्रसन्न हो रहे थे। 'उनकी भेंट भगवान स्वयं स्वीकार करेंगे' यह जानकर वे हर्ष से फूले न समाते थे।

"मैं स्वीकार करता हूँ राजन्, पर मैं एकान्त में ही देवेश्वर को प्रसन्न कर सकूँगा" परिव्राजक बोला।

"आप अपने कार्य मे स्वतंत्र हैं" राजा ने परिव्राजक की शर्त स्वीकार कर ली।

× × ×

अंधा क्या चाहे दो आँखें। परिव्राजक यह तो चाहता ही था, इतना स्वादु खाद्य उसकी क्षुधातृप्ति के लिए पर्याप्त था। आज वह प्रसन्न था।

पूजाकृत्य समाप्त हो चुके थे, राजा की आज्ञानुसार पुजारी आदि चले गए थे। बिलकुल एकान्त था, फिर भी आशंकित परिव्राजक ने मंदिर के पुष्ट द्वार बन्द कर लिए और अपनी पेटपूजा का आयोजन करने लगा।

सन्मुख विपुल आहार का ढेर लगा था जो तपस्वी की शरीर रक्षा करने में समर्थ था। उसने एक दृष्टि शिवलिंग पर फेंकी और उपेक्षा से मुस्कुरा दिया। 'ओं नमः सिद्धेभ्यः' कहकर वह आहार पर टूट पड़ा और उसे चट कर गया। आज उसने पहिली बार तृप्ति का अनुभव किया। उसे विश्वास हो चला कि अब मैं अपनी शरीररक्षा कर सकूँगा।

परिव्राजक तृप्त अवश्य था पर अपनी वर्तमान अवस्था पर मन ही मन उसे घृणा हो रही थी। जो कुछ भी वह कर रहा था, विवश होकर कर रहा था। एक क्षण के लिए वह काँप उठा

अपने कृत्यों की आलोचना कर ! असत्य, छल, देवापमान, न जाने कितने कुकर्मों का फल था वह आहार ।

× × ×

मन्दिर के द्वार खुलने पर लोगों की प्रसन्नता और आश्चर्य का ठिकाना न रहा । उन्होंने देखा कि भोलानाथ ने सचमुच ही उनकी भेंट स्वीकृत कर ली है । नैवेद्य के थाल रिक्त पड़े थे, यह इसका प्रबल प्रमाण था । राजा शिवकोटि ने जब यह समाचार सुना तो अत्यन्त प्रसन्न हुआ ।

परिव्राजक की अब चाँदी थी ! इस घटना ने उसे विख्यात कर दिया था, उसका सम्मान और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई थी । मन्दिर के पुजारी उसके सम्मान को बढ़ता देख चिन्तित थे । उनका विश्वास था कि परिव्राजक कोई ऐन्द्रजालिक है और अपनी माया के बल से ही ऐसा करता है । वे सदा यह रहस्य उद्घाटित करने के प्रयत्न मे लगे रहते थे पर सफल न हो सके थे । नाना युक्ति और उपायों से भी उन्हें सत्य का पता न लग सका ।

परिव्राजक की व्याधि क्रमशः शान्त हो चली और क्षुधा तृप्त हो चली थी । नैवैद्य का शेषांश दिनों दिन बढ़ने लगा । भक्तों ने जब इस पर शंका की तो परिव्राजक ने इसे भोलानाथ की तृप्ति कहकर टाल दिया । भोली जनता इतने से ही सन्तुष्ट हो सकती थी पर पुजारियोंकी मण्डली को अपनी शंका पर विश्वास होने का एक और कारण मिल गया । अन्ततोगत्वा उनका प्रयत्न सफल हो ही गया । पत्रपुष्पों से भरी नाली मे छिपकर एक पुजारी ने परिव्राजक का वह दैनिक कृत्य देख ही लिया और परिव्राजक का भेद खुल गया ।

× × × ×

मन्दिरका प्रांगण ठसाठस भरा था। राजा की आज्ञा से परिव्राजक आज अपने पापका प्रायश्चित करेगा। विशिष्ट उत्सव का आयोजन किया गया था।

निश्चित समय पर राजा शिवकोटि भी उपस्थित हुआ। बन्दी परिव्राजक दूसरी ओर से उपस्थित किया गया। वह आज भी प्रसन्न था और उसका प्रदीप्त चेहरा आज भी जनता पर प्रभाव डाले बिना न रहा।

"ढोंगी परिव्राजक ! तुमने विश्वनाथ महादेव का अपमान किया है। तुम्हें प्रायश्चित करना पड़ेगा" राजा ने परिव्राजक के सम्मुख जाकर कहा।

"मेरा ऐसा संकल्प न था महाराज, शरीररक्षा ही मुख्य उद्देश्य था" परिव्राजक ने उत्तर दिया।

"इस नश्वर शरीर के लिए विश्वनाथ के साथ छल ?" राजा को तपस्वी का उत्तर निस्सार जँचा।

"जीवन जीने के लिए है महाराज, मैंने सोचा, इतना खाद्य मेरी व्याधि शान्त करने मे समर्थ है, मैं क्यों न इसे प्राप्त करूँ। विश्वनाथ शिव का मैं कृतज्ञ हूँ, उनके भोग से ही मैं स्वस्थ हुआ।" परिव्राजक बोला।

"व्यर्थ का तर्क मुझे पसन्द नहीं परिव्राजक ! तुम जैसे साधारण मनुष्य ने देवता का अपमान करने का साहस किया कैसे ? तुम दण्डनीय हो।" राजा क्रुद्ध स्वर में बोला।

"मनुष्यत्व देवत्व से उच्च है महाराज" परिव्राजक ने शान्त उत्तर दिया।

"चुप रहो धृष्ट। तुम्हें भगवान से क्षमा माँगनी पड़ेगी, अपना गर्वीला मस्तक झुकाना पड़ेगा..." राजा ने दण्डव्यवस्था की।

"मैं कह चुका महाराज, मेरा नमस्कार सहने की सामर्थ्य इस पाषाणखण्ड में नहीं है" परिव्राजक ने निर्भीक उत्तर दिया।

"भविष्य इसका निर्णय करेगा, तुम अपना कार्य करो" राजा ने उपेक्षा की हँसी हँसी।

"मेरा अनुरोध है महाराज, मुझे बाध्य न किया जाए" परिव्राजक ने फिर प्रार्थना की।

"मैं कुछ नहीं सुनना चाहता वाचाल, नमस्कार करो। हम आज तुम्हारी सामर्थ्य की परीक्षा करेंगे" राजा ने अन्तिम निर्णय सुना दिया।

"अच्छा!" शान्त स्वर में परिव्राजक ने कहा और घुटने टेक कर बैठ गया। उसका पूर्वरूप जागृत हो उठा, उसका ज्ञान और सञ्चित तपःपूत शक्तियाँ, कवि का कवित्व, भक्त की भक्ति, और ज्ञानी का ज्ञान एक साथ जाग उठे और सुन्दर ललित छन्दों मे उसके मुख से काव्यधारा बह चली। उपस्थित जनता रसमें डूबने लगी, लोग पूर्व घटना को भूल चले और परिव्राजक के पाण्डित्य पर मुग्ध हो गये। परिव्राजक लगातार श्लोक पढ़ रहा था और उसका चेहरा दीप्त होता जा रहा था।

"नमस्कार करो परिव्राजक" राजाज्ञा उसके कानो मे गूँजी। एक बार उसने सामने देखा और नवीन स्फूर्ति और उत्साह के साथ मस्तक झुकाया। परिव्राजक का मस्तक झुकाना था कि वज्र के गिरने जैसी विकट ध्वनि हुई, मन्दिर हिल उठा, जनसमूह दहल गया। सामने शिवलिंग के टुकड़े टुकड़े बिखरे पड़े थे और उनके बीच चन्द्रमा की कान्ति के ओघ की भाँति उज्ज्वल प्रकाशपुंज अपनी कांति बिखेर रहा था। परिव्राजक भूमि पर पड़ा गा रहा था :—

'चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चंद्रं द्वितीयं जगतीव कांतम्।
वंदेऽभिवंद्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबंधम् ॥'

इस विचित्र घटना ने राजा के हृदय पर बड़ा असर किया, वह परिव्राजक के चरणों मे गिर पड़ा। "मैं आपका शिष्य हूँ महाराज" उसने निवेदन किया। राजा के साथ प्रजा ने भी परिव्राजकवेषी तपस्वी समन्तभद्र के चरणों मे मस्तक झुकाया।

आत्मा की शक्ति के सन्मुख सारी शक्तियाँ झुक गईं।

बलिदान

अमावस्या की सघन अंधियारी रात में असंभाव्य और भयोत्पादक भीषण नाद से विद्यापीठ त्रस्त हो उठा। छात्रावास के विशाल भवनों में आतंक और भय के स्वर गूंजने लगे। दो क्षण पूर्व का शान्त वातावरण क्षुब्ध हो गया। अचानक नींद टूट जाने से ब्रह्मचारी लोग आँखें मलते हुए उठे, अज्ञात दुर्घटना की आशंका से वे काँपने लगे, "बुद्ध शरण गच्छामि" का त्रस्त स्वर वायु मे मिल कर प्रार्थना बन गया और सारा वातावरण बुद्धमय हो गया था, पर यदि कोई ध्यान से सुनता तो भवन के एक कोने से उसे "णमो अरहंताणं" का शान्त और धैर्य स्वर अवश्य सुनाई देता।

कोलाहल अस्थायी था। कुछ क्षणों में ही वह स्थान पुनः शान्त हो गया, वही निस्तब्धता, अंधकार की वही निविड़ता और वही नीरवता फिर छा गई। ब्रह्मचारी यद्यपि इस कोलाहल का कारण जानने को उत्सुक थे पर आकस्मिक भयकी आशंका ने उन्हें इतना डरा दिया था कि अपने स्थान पर ही मूक की भाँति बैठे रहे। बगल में बैठे हुए दूसरे ब्रह्मचारी से आलाप करने का भी उन्हें साहस न होता था। कोलाहल के बारे में अभी तक उन्हें कुछ भी मालूम नहीं हो सका था। वे चकित थे और एक दूसरे की ओर जिज्ञासा भरी दृष्टि से देख रहे थे, हर एक दूसरे की सुनना चाहता था पर उनमे से कोई भी पहले बोलने को तैयार न था।

भवन का द्वार तेजी से खुला। दो सशस्त्र सैनिक भीतर प्रविष्ट हुए और एक कोने से दो ब्रह्मचारियों को बन्दी बनाकर उसी प्रकार बाहिर हो गए। ब्रह्मचारियों का दल मूक बना यह सब देखता रहा और चलचित्र की भाँति उनके सामने ही होने वाली यह घटना उन्हें स्वप्न की भाँति प्रतीत हुई। वे अभी भी निस्तब्ध थे।

× × × ×

कथा उस समय की है जब तलवार के बल पर बौद्धसाम्राज्य की स्थापना की जा रही थी। तथागत गौतमबुद्ध का अहिंसा-धर्म हिंसा द्वारा प्रचारित किया जा रहा था, राज्यकार्य में बौद्ध-धर्मावलम्बी को विशेष सुविधाएँ दी जाती थीं। लालच, भय, ताड़ना आदि के द्वारा धर्मस्वातंत्र्य का अधिकार छीन कर बौद्ध-धर्म प्रजा पर जबरन लादा जा रहा था।

अकलंक और निष्कलंक सहोदर थे। बाल्यकाल से ही अच्छे अच्छे दार्शनिक उनकी बुद्धि और प्रतिभा का लोहा मानते थे और दाँतों तले उँगली दबाते थे। उनकी तर्कणा और विचार-शक्ति दिनों दिन उद्बुद्ध होती जाती थी।

शास्त्रार्थ का युग था, जगह जगह शास्त्रार्थ होते थे और उन्हीं के द्वारा धर्म का प्रचार होता था। शास्त्रार्थ में विजय का अर्थ माना जाता था विजेता के धर्म की सर्वोपरिता। इसके लिए आवश्यकता थी कि अन्य धर्मों के दर्शनशास्त्रों का आलोचनात्मक अध्ययन किया जाए और उनकी असमर्थता प्रमाणित की जाए। दोनों भाई अनेकान्त सिद्धान्त के पण्डित होते हुए भी अन्य विद्याओं की शिक्षा के लिए बौद्धवेष में विद्यापीठ मे प्रविष्ट हुए थे। चूँकि भगवान

महावीर के अनुयायियों को उस समय विद्यापीठ में प्रविष्ट नहीं किया जाता था इसलिए उन्हें बौद्धवेष धारण करना पड़ा था, पर दुर्भाग्य से वे अधिक दिनों तक छिप न सके। विद्यापीठ में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं कि आचार्य को निगंठ नाथपुत्त के अनुयायियों की गंध आने लगी। इन विद्यार्थियों को खोज निकालने के लिए उन्हों ने अनेक उपायों का आलम्ब लिया था पर असफल रहे थे, विधर्मी पकड़े न जा सके थे।

रात्रि का आकस्मिक कोलाहल भी उनमें से एक था और वह अंतिम था। आचार्य इस बार सफल हुए और दोनों बालक बन्दी बनाए गए।

× × × ×

"आज तुम पराजित हुए बालको" आचार्य ने बंदियों की ओर घृणाभरी दृष्टि डालते हुए गर्व भरे स्वर में कहा।

बन्दी उनके सम्मुख खड़े थे, वे चुप रहे। उनकी पराजय हुई, इसे वे स्वीकार करते थे।

"मूक मत बनो बालको, मुँह खोलो और स्वीकार करो, तुम्हारा छल निष्फल रहा" आचार्य ने अपनी विजयगाथा बन्दियों के मुख से सुनना चाही।

"पर आप का छल भी सराहनीय नहीं हो सकता गुरुदेव" छोटे बन्दी ने निर्भय उत्तर दिया।

"छल !" आचार्य की त्योरियाँ चढ़ गईं "मेरे बुद्धिबल को छल कहने का तेरा साहस ?"

"क्षमा कीजिए गुरुदेव, सत्य अस्वीकृत नहीं किया जा सकता" बड़े भाई ने शान्त उत्तर दिया।

"चुप रह वाचाल, मेरा अपमान कर अपने अपराधों की

संख्या न बढ़ा।" आचार्य क्रोध से काँपने लगे। अकलंक के शान्त उत्तर ने उनकी क्रोधाग्नि में घी का काम किया।

"हमने अपराध किये ही कहाँ हैं?" निष्कलंक ने चट उत्तर दिया।

आचार्य यह कभी स्वीकार करने को तैयार न थे कि बन्दियों ने कोई अपराध नहीं किया। वे सोचते थे कि बन्दी बालक हैं, उन्हें डरा धमकाकर भगवान तथागत के धर्म का अनुयायी बनाया जा सकता है। पर निष्कलंक से यह निर्भय और दृढ़ उत्तर पाकर उन्हें अपने विश्वास मे शंका होने लगी।

"तो तुम्हें अपने किए के लिए पश्चात्ताप नहीं है?" उनने प्रश्न किया।

"बिलकुल नहीं" दोनो बन्दियो ने एक स्वर से उत्तर दिया।

"नहीं" आचार्य ने गरज कर दुहराया "अपनी इस अवस्था को देखते हुये भी तुम्हें अपने कृत्य पर घृणा नहीं होती"

"नहीं" दोनों ने दृढ़ता से फिर कहा।

"तुम मृत्यु से नहीं डरते बालको" आचार्य का सौम्य मुख विवर्ण हो चला था।

"कदापि नहीं" बालक फिर भी दृढ़ रहे।

यह उत्तर साधारण उत्तर न था। आचार्य की शक्ति, सामर्थ्य, बुद्धि और प्रभाव, सभी इससे पराजित हो गये थे। अपनी इस अवस्था को देख उनका क्रोध उबल रहा था। अपमान और उपेक्षा का प्रतिशोध आवश्यक था। पर आचार्य ने अभी भी आशा न छोड़ी, उनने फिर एक बार क्रोध को दबाया।

"तुम्हें जीवन से मोह नहीं है बालको" वे बालकों को नन्हें बालक की भाँति फुसलाने की चेष्टा करने लगे।

"आत्मा अमर और अनश्वर है गुरुदेव, कोई शक्ति उसे नष्ट नहीं कर सकती" अकलंक ने विनम्र उत्तर दिया।

"आत्मा तो क्षणिक है दुर्बुद्धि, इतने दिन का अध्ययन क्या तुम्हें यह भी न सिखा सका" आचार्य ने बालकों की मन्दबुद्धि पर खेद प्रकट किया।

"इसी सिद्धान्त की अव्यावहारिकता तो सीखी है हमने" अकलंक ने आचार्य के सिद्धान्त का विरोध किया। अपने सिद्धान्त का विरोध आचार्य न सह सके। एक बालक की यह दुश्चेष्टा उनके ज्ञान और बुद्धि पर प्रबल आघात था। जैनों और बौद्धों का सांघातिक विरोध उनके क्रोध को प्रज्वलित करने में विशेष कारण था। वे चिल्ला उठे "तुम हमारी जड़ें खोदने को विद्यार्थी हुए थे दुष्ट ?"

"अवश्य" दोनो अब भी निर्भीक थे।

"प्रवञ्चक ! नीच !" आचार्य का क्रोध चरम सीमा तक पहुँच गया था "तुम्हारा अपराध अक्षमार्जनीय है, तुम मृत्युदण्ड के अधिकारी हो" वे कहते गए।

बालक इस भयंकर गर्जना और विकट धमकी से भीत होने-वाले न थे। मृत्यु का आलिंगन करने के लिए वे सदा सन्नद्ध थे। वे चुप खड़े रहे।

"एक उपाय है" इसी बीच आचार्य का शान्त स्वर सुनाई पड़ा।

"क्या" अकलंक ने पूछा।

"सद्धर्म की शरण, भगवान तथागत के पवित्र धर्म की शीतल छाया" आचार्य ने प्रसन्नता और श्रद्धा से ये वाक्य कहे।

"असम्भव" दोनों ने तुरत उत्तर दिया।

"कलंकियो" आचार्य ने ताड़ना की।

"तथागत के अहिंसाधर्म की हिंसा से रक्षा करने वाले कलंकी हो सकते हैं, हम अकलंक हैं" अकलंक ने विरोध किया।

"चुप रहो दुष्टो" आचार्य अब कुछ भी सुनने को तैयार न थे। दोनो युवक शान्त हो गए।

आचार्य चिन्तित हो गए कि अब किया क्या जाय। बन्दियों की ओर से उनकी रही सही आशा भी जाती रही। ऐसे निर्भीक और दृढ़ बालक आज तक उन्हें न मिले थे।

"अभी समय है बालको, प्रभात तक अच्छी तरह सोचलो, सद्धर्म की शरण या मृत्युदण्ड ?" आचार्य ने फिर समझाना चाहा।

"हमारा निश्चय अडिग है" छोटे बन्दी ने जवाब दिया।

"तो प्रभात की राह देखो" आचार्य तीव्रगति से बाहर हो गए।

\+ \+ \+ \+

उत्तुङ्ग भवन के प्रकोष्ठ मे दोनों बन्दी अपनी अवस्था पर विचार करते करते कभी प्रसन्न हो उठते थे पर दूसरे क्षण उनके चेहरे पर अप्रसन्नता छा जाती थी। उन्हें गर्व था कि हम अपने पथ से विचलित नहीं हुए और आज धर्म के लिए शहीद हो रहे हैं। दूसरे क्षण वे निराश हो जाते थे, यह सोच कर कि हमारा उद्योग विफल रहा और हम धर्म के लिए कुछ न कर सके।

'हमारा उद्योग निष्फल हुआ निष्कलंक" अकलंक ने अफसोस की सांस लेते हुए छोटे भाई से कहा।

"पछतावा तो यही है भइया, कि हम कुछ न कर सके" निष्कलंक ने उत्तर दिया।

"दुर्भाग्य ने हमारी आशाएँ धूलि मे मिलादी। हमारी बुद्धि,

हमारी प्रतिभा और हमारी शक्ति सब आज असहाय हो गई हैं" अकलंक ने वार्ता आगे बढ़ाई।

"पर मैं ऐसा नहीं सोचता भइया, मैं शक्ति पर विश्वास करता हूँ" निष्कलंक ने दृढ़ता से उत्तर दिया।

"हम सोचें या न सोचें, होनहार होती ही है, उसपर हमारा बस नहीं चलता" अकलंक ने निष्कलंक की दृढ़ता पर आश्चर्यभरी दृष्टि डालते हुए कहा। उसे अपने छोटे भाई की बातें कुछ अस्वाभाविक सी प्रतीत होती थीं जो चारों ओर से घिरा होने पर भी, प्रायः मृत्यु की राह देखता हुआ भी, अपनी शक्ति मे विश्वास रखता है।

"पर होनहार तो हमारी ही कृति है। आत्मा की अनन्त-शक्ति को क्यों भूल जाते हो भइया ?" निष्कलक सचमुच पुरुषार्थी था, उसने चट उत्तर दिया।

"भाग्य प्रबल है" अकलक ने हार मानते हुए धीमे स्वर में कहा।

"पुरुषार्थ उससे भी प्रबल होगा भइया, मैं भाग्य से नहीं डरता" निष्कलक ने भाग्यवाद का तिरस्कार किया।

"पर अब पुरुषार्थ को अवसर कहाँ ?" अकलक ने अन्य किसी उत्तर के अभाव मे कहा।

"क्यों ? क्या हम किसी तरह भाग नहीं सकते" निष्कलक को अभी भी भाग सकने की आशा थी।

"असम्भव, चारों ओर रक्षको का पहरा है" अकलंक बोला।

"ससार मे असम्भव कुछ भी नहीं है भइया, सब कुछ परिस्थितियों पर निर्भर करता है। जिसे हम भाग्य कहते हैं वह कुछ नहीं, अवसर का ही दूसरा नाम है। वह मूर्ख है जो अवसर से लाभ नहीं उठाता। और हम तो वीर हैं हमें परिस्थितियों को अपने अनुरूप बनाना चाहिये।" निष्कलंक से नवीन

स्फूर्ति का संचार हो रहा था। उसे विश्वास था कि हम लोग प्रयत्न करने पर इस जाल से मुक्त हो सकते हैं।

अचानक बादल गरजे। भवन के द्वार भड़भड़ा उठे। तीव्र-गति पवन के धक्के खाकर वे जर्जर से हुए जा रहे थे, ऐसा प्रतीत होने लगा कि दूसरे क्षण वे टूटकर गिरते ही हैं। भीषण तूफान और वर्षा के बीच चमक जाने वाली बिजली का प्रकाश उन दोनों बन्दियों को उत्साहित करने लगा था और निष्कलंक के हर्ष का ठिकाना न रहा जब उसने देखा कि वायु के प्रबल आघात से एक खिड़की खुल गई है। उसने देखा, अवसर आ पहुँचा है, प्रकृति उसका साथ दे रही है और सफलता उसके सम्मुख खड़ी हँस रही है। वह आह्लादित हो उठा।

"इससे अच्छा अवसर फिर नहीं मिलेगा भइया! यह वातायन हमें मार्ग दे रहा है, चलो, उठो, भागो इसी रास्ते" उसने अकलंक का कन्धा पकड़ हिलाया जो अभी भी अस्वस्थ सा बैठा था। वह तूफान, वह वातायन, सब कुछ उसे इन्द्रजाल सा प्रतिभासित हो रहा था, इन सब पर उसे विश्वास ही न होता था।

"भइया भागो" निष्कलंक ने फिर चिल्ला कर कहा। अकलंक की मानों निद्रा भंग हुई। सामने मार्ग खुला था। उसने मन ही मन भगवान का स्मरण किया और दोनों भाई उसी वातायनमार्ग से निकल भागे। भीषण तूफान और वर्षा ने रक्षकों को अव्यवस्थित कर ही दिया था इसलिये उन्हें बन्दियों के निकल भागने की खबर भी न लगी और दोनों बन्दी सघन अन्धकार मे रक्षकों की आँख बचाते हुये क्रमश. विद्यापीठ की सीमा से बाहर जा पहुँचे।

× × ×

वे अब स्वतन्त्र थे, पराधीनता की बेड़ियाँ तोड़कर स्वतन्त्र वायुमण्डल मे साँस ले रहे थे। उनके पैर निर्बाध पथ पर दौड़ रहे थे और उनका उत्साह दूना हो रहा था। ज्यों ज्यों उनका शरीर श्रान्त होता था, आत्म विश्वास त्यों त्यों जागृत होता जाता था।

घनी वर्षा के बाद प्रातःकाल की किरणें स्वर्णिम प्रकाश लेकर चारों ओर फैल गई थीं, वनप्रान्त में सुषमा बिखर गई थी और चारों ओर सौंदर्य और मोहकता का प्रसार हो गया था।

भागने वाले भागते ही जा रहे थे। दोनों अब प्रसन्न थे, "हम अब स्वतन्त्र हैं" इस विचार से हर्षित थे और अब उन्हें अपनी प्राणरक्षा की आशा हो गई थी। अकलंक अपनी इसी प्रसन्नता को प्रगट करने के लिए निष्कलंक से कुछ कहना चाहता ही था कि पीछे से कोलाहल और घोड़ों की टापों का स्वर सुनाई दिया। दोनों बालको के मुख विषण्ण हो गए। स्पष्ट था कि शत्रुओं को इनके भाग निकलने का समाचार मिल चुका है और वे इन्हें पुनः बन्दी बनाने के लिए आ रहे हैं।

बालकों ने अपनी गति और भी तेज की, पर रात भर दौड़ने से श्रान्त हो जाने के कारण अब वे अधिक दौड़ने में असमर्थ थे। अश्वों की टापों का स्वर और भी तेज होने लगा था और अश्वारोही निकट आ पहुँचे थे।

"भइया रक्षा का स्थान खोजना चाहिए" दौड़ते दौड़ते ही निष्कलंक ने अकलंक से कहा। अकलंक चुप रहे।

निष्कलंक ने ठहर कर एक बार चारो ओर दृष्टि दौड़ाई। क्षण भर में ही उसके विषण्ण मुख पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई।

"वह देखो" सामने संकेत करते हुए उसने बड़े भाई से कहा।

"क्या ?" संकेत को न समझकर अकलंक निष्कलंक के मुख की ओर देखने लगे।

"सरोवर" उसने उत्तर दिया "इसी में आपको छिपना पड़ेगा"।

"स्थान तो शरण्य है पर मुझे ही क्यों ? क्या तुम्हें नहीं छिपना पड़ेगा ?" अकलंक ने अनायास ही मुस्करा कर कहा।

"हाँ, आपको ही" निष्कलंक ने स्पष्ट किया, हम दोनों का छिपना धर्म के लिए हानिकर होगा। अश्वारोही हम दोनों को न पाकर इस स्थान की छानबीन करेंगे और फिर आपकी भी रक्षा न हो सकेगी।" निष्कलंक एक साँस में ही सब कुछ कह गया।

"तो तुम यहाँ छिप जाओ, मैं उनसे निपट लूँगा" अकलंक ने अपने प्राणों का मोह त्याग भाई के प्राण बचाना चाहे।

"यह उचित न होगा भइया, आप बहुश्रुत है, धर्म को आपकी आवश्यकता है। आपकी प्रतिभा अद्वितीय है, आप ही धर्म की रक्षा करने मे समर्थ हैं। मुझ से यह न हो सकेगा" निष्कलंक ने प्रार्थना की।

"मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता, मैं तुम्हें मृत्यु को समर्पित नहीं कर सकता" अकलंक की आँखें छलछला उठीं।

"तो क्या धर्म को कर देंगे, धर्म मुझसे अधिक मूल्यवान है भइया" निष्कलंक ने करुणास्वर में पुनः प्रार्थना की।

"होगा !" अकलक ने साँस ली "चलो, भागो, हम तुम साथ ही प्राणत्याग करेंगे" यह कह वह भागने को तैयार हुआ।

"मान जाओ मेरे भइया, जाने दो मुझे, भगवान महावीर के नाम पर मुझे जाने दो" निष्कलंक फिर गिड़गिड़ाया।

अश्वारोही अधिक निकट आ पहुँचे थे। अश्वों की टापों का
ब्द बिलकुल समीप मालूम होता था। निष्कलंक उत्तेजित
उठा।

"वे आ पहुँचे भइया, छिप जाइए, छिप जाइए, आप बहुश्रुत
, आपके प्राण बहुमूल्य हैं" वह अकलंक के चरणों पर गिर पड़ा।
नों की आँखो से आँसू बहने लगे। भ्रातृस्नेह उमड़ आया।
नुपम आदर्श सामने था। एक भाई-दूसरे के प्राणरक्षार्थ
पने प्राणों की बलि देने को उत्सुक था, दूसरा उस बलि की
ल्पना कर उसे मौत के मुँह मे कैसे ढकेल सकता था। पर धर्म
नाम पर यह भी हुआ।

पीछा करने वालो का कोलाहल और भी स्पष्ट सुनाई देने
गा था। निश्चित था कि कुछ ही क्षणों में वे इस स्थान पर
ा पहुँचेंगे।

"भइया शीघ्रता करो, वे आ पहुँचे। जिनधर्म की रक्षा
म्हारे हाथ है" निष्कलक क्षुब्ध हो रहा था कि भैया मान क्यों
हीं जाते। अकलंक अब अपने आँसुओ को छिपा न सके और
क धारा बह चली उनकी आँखों से। उनने धीमे स्वर में
वीकृति दी "अच्छा"। वे कुछ और कहना चाहते थे पर गला
रीया और कुछ न कह सके।

विवश अकलक को सरोवर में छिपना पड़ा। टूटे हुए हृदय
े उनने छोटे भाई को विदा दी। छोटे भाई के हर्ष और
उत्साह का ठिकाना न रहा जब बड़े भाई ने उसे विदा किया।
ह भागा जा रहा था मार्ग पर, निश्चिन्त, निर्भय, निस्सहाय!

× × ×

एक बालक को बेतहाशा भागते देख और पीछे अश्वारोहियों
का दल देख आशंका से त्रस्त हो एक धोबी कारण जानने को

उसके पीछे दौड़ा। पर निष्कलंक निर्द्वन्द्व था। वह किसी की चिन्ता न करता हुआ भागा जा रहा था। धोबी का भय और भी बढ़ा और वह बालक को रोकने के लिए चिल्लाता हुआ उसके पीछे दौड़ा।

अश्वारोही आ ही पहुँचे। शिकार उनके सामने असहाय भाग रहे थे। उनकी तलवारें एक बार आकाश में चमकीं और दूसरे क्षण दो मुण्ड पृथ्वी पर लोटने लगे। "भगवान बुद्ध की जय" के साथ तलवारों के वार हुए थे और "णमो सिद्धाणम्" के शान्त स्वर के साथ बालक के प्राण निकले।

वधिक प्रसन्न होकर लौटे। वे हर्षोन्मत्त थे कि विधर्मी विद्रोहियों का नाश हुआ। बालक निष्कलंक की आत्मा स्वर्ग में प्रसन्न थी कि मैंने धर्म की रक्षा कर ली।

× × × ×

निष्कलंक का बलिदान भट्ट अकलंकदेव का जन्मदाता हुआ।

× × × ×

सत्य की ओर

राजमहल से रत्नों की चोरी हो जाना असाधारण घटना थी। चारों ओर आतंक छा गया, स्वयं महाराज दशरथ इस घटना से चकित हो गये, उनके राज्यकाल में आज तक किसी ने ऐसा दुस्साहस नहीं किया था। इतने रक्षको के रहते हुए भी चोर रहस्य की भाँति अज्ञात ही रहा। किसी को दृष्टिगोचर भी नहीं हुआ, पकड़े जाने की तो बात ही क्या!

रक्षको की अव्यवस्था और उपेक्षावृत्ति पर महाराज का क्रोध क्षण क्षण बढ़ता जा रहा था। इस प्रकार तो ये आलसी राज्य भी लुटा सकते हैं, शत्रु को आकस्मिक आक्रमण का अवसर दे सकते है। 'नगर रक्षक का ही सम्पूर्ण दोष है' यह निश्चय कर उनने नगररक्षक यमदण्ड को उपस्थित होने की आज्ञा दी।

नगररक्षक उपस्थित हुआ। उसे देखते ही महाराज का क्रोध उबल पड़ा।

"चोर का पता लगा?" उसके आते ही उनने प्रश्न किया।

"अभी तक नहीं, महाराज!" नगररक्षक ने कम्पित स्वर मे उत्तर दिया।

"तुमने प्रयत्न किया?" राजा ने दूसरा प्रश्न किया।

"चारो दिशाओं में चरों को नियुक्त कर दिया है श्रीमान्, ऐसा विचित्र चोर आज तक नहीं देखा" यमदण्ड ने अपनी असफलता का कारण चोर का विचित्र होना बतलाया।

"चोर विचित्र नहीं है यमदण्ड! तुम्हारा प्रबन्ध विचित्र है। जागृत व्यक्ति ही चोर को पकड़ सकता है" महाराज ने व्यंग्य किया।

"मेरे प्रबन्ध में कोई त्रुटि नहीं है श्रीमान्" यमदण्ड ने दृढ़ता से उत्तर दिया।

महाराज का क्रोध बढ़ता ही जा रहा था, उन्हें विश्वास हो गया था कि नगररक्षकों की उपेक्षा के कारण ही यह दुर्घटना घटी। अन्यथा इतने रक्षकों के रहते किसे साहस होता कि राजमहल मे प्रविष्ट हो।

"मैं तुम्हारा ही अपराध मानता हूँ, तुम्हारी उपेक्षा के कारण ही राज्य को हानि हुई" राजा ने निर्णय दिया।

"चोर अवश्य ही मेरे चंगुल मे फँसेगा महाराज!" यमदण्ड ने आशा प्रगट की।

"बस चुप रहो, व्यर्थ का दम्भ अच्छा नहीं होता" राजा ने उत्तर दिया।

"मैं सच कहता हूँ महाराज, चोर मेरी दृष्टि से छिप नहीं सकता। मेरी शिक्षा असमर्थ नहीं हो सकती" यमदण्ड ने महाराज के निर्णय पर अविश्वास प्रगट किया।

"तो सुनो, मैं तुम्हें सात दिन का अवसर देता हूँ। सात दिन मे ही चोर उपस्थित किया जाना चाहिये, अन्यथा चोर के स्थान पर तुम्हें दण्ड का भागी होना पड़ेगा" महाराज ने क्रोध भरे स्वर मे आज्ञा दी।

यमदण्ड चुप रहा।

"सुन लिया न? जाओ" महाराज ने दुबारा तीक्ष्ण स्वर में कहा।

यमदण्ड मस्तक झुकाए चल दिया।

× × ×

चिन्तित यमदण्ड नगर के एक छोर से दूसरे छोर तक भटक रहा था। छह दिन बीत चुके थे और आज अन्तिम दिन था। चोर का पकड़ा जाना असंभव सा प्रतीत होता था। यमदण्ड युवक था, धीर था, पर निरपराध दण्ड उसे असह्य था। यह बात न थी कि वह चोर के खोजने में दृढ़ न रहा हो। इतने प्रयत्न करने पर भी चोर यदि पकड़ा न जाए तो उसका क्या दोष? संभव है, वह राज्य त्याग कर भाग गया हो। यह भी संभव है कि भय के मारे वह आत्महत्या कर बैठा हो। यमदण्ड यही सोचता विचारता व्यर्थ ही यहाँ से वहाँ टहल रहा था। चोर के आत्मघात या भाग निकलने में उसे विश्वास नहीं होता था। वह सोचने लगता कि राजमहल में चोरी करने का दुस्साहस करने वाला इतना कायर नहीं हो सकता। वह अवश्य यहीं कहीं छिपा हुआ है। हो सकता है, वह मेरा शत्रु हो और मेरे विरुद्ध उसने यह षड्यन्त्र रचा हो।

शत्रु का विचार आते ही यमदण्ड का उत्साह दूना हो गया, उसका क्रोध उमड़ आया और उसने उसी क्षण निश्चय किया "मैं चोर को अवश्य पकड़ूंगा"। उत्साहित यमदण्ड पुनः अपने कार्य मे लग गया।

एक स्थान पर उसने देखा, एक भिक्षुक पड़ा हुआ है, चिथड़ो मे लिपटा, क्षुधित, असहाय! नागरिकों को देखते ही वह दीन स्वर मे भिक्षा के लिये प्रार्थना करता है और मिल जाने पर उनकी आँख बचा कर उपेक्षा से एक ओर डाल देता है।

यमदण्ड भिक्षुक की यह क्रिया बड़ी देर से देख रहा था, पर भिक्षुक यमदण्ड को अब तक न देख पाया था। उसकी दीन और दुखित अवस्था मे किसी को संशय नहीं हो सकता था, पर यमदण्ड ऐसे असमर्थ प्राणी पर भी सन्देह कर बैठा।

'चोर यही है', न जाने क्यों उसके मन में विश्वास सा होने लगा। भिक्षुक की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक स्वर और उसके प्रत्येक आचरण में यमदण्ड को संशय होने लगा, उसकी आर्तवाणी और दीन आचरण सब ढोंग और छल प्रतीत होने लगे। उसे भिक्षुक के कातर चेहरे पर धृष्टता और धूर्तता के स्पष्ट दर्शन हुए। मनही मन उसने कुछ निश्चय किया और दूसरे ही क्षण भिक्षुक के सम्मुख जा खड़ा हुआ। भिक्षुक ने यमदण्ड को एक बार देखा और फिर सदा की भाँति दीन स्वर मे याचना करने लगा। इस बार उसके स्वर में कम्प था, यमदण्ड से यह छिप न सका, उसे निश्चय हो गया कि चोर यही है। उसका क्रोध उमड़ पड़ा। कठोर पादप्रहार कर वह चिल्लाया "धूर्त, तूने यहाँ भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा" और अनवरत प्रहारों से भिक्षुक का शरीर जर्जर कर दिया।

एक निरीह और असहाय भिक्षुक को पिटते देख नागरिकों की भीड़ जमा हो गई। भिक्षुक की स्थिति और नगररक्षक की निष्ठुरता पर लोगो ने तरह तरह की चर्चा की पर नगररक्षक के विरुद्ध एक भी शब्द कहने का किसी को साहस न हुआ।

भिक्षुक महाराज के सम्मुख उपस्थित किया गया। यमदण्ड ने नानाप्रकार से चेष्टा की कि वह अपना अपराध स्वीकार करले पर भिक्षुक हर स्वर से अस्वीकृत ही करता रहा। "मैं दीन हूँ महाराज, मेरी सामर्थ्य ऐसी कहाँ" उसने प्रार्थना की।

राजा और अन्य सामन्तों को उसके चोर होने मे विश्वास न होता था और उसकी इस दशा को देख कोई ऐसा विश्वास

कर भी कैसे सकता था। सब यही सोचते थे कि यमदण्ड ने अपने प्राणों की रक्षा के लिए इस बेचारे को पकड़ लिया है।

"यमदण्ड ! यह चोर नहीं है", महाराज बोले।

"अवश्य है महाराज ! चोर यही है" यमदण्ड ने दृढ़ता से उत्तर दिया।

महाराज ने विचारा कि यमदण्ड अपनी रक्षा के लिये ही असत्य पर दृढ़ है। वे बोले "हम तुम्हें यथेच्छ समय दे सकते हैं यमदण्ड, ! इस बेचारे को छोड़ दो"

"महाराज, राजमहल में चोरी करके निर्बाध निकल भागने वाला इसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता" यमदण्ड ने दृढ़तापूर्वक निवेदन किया।

"पर हमें विश्वास नहीं होता" महाराज ने उत्तर दिया।

"मुझे दो दिन का अवसर दीजिये, मैं इसी के मुख से स्वीकृत कराऊँगा " यमदण्ड ने प्रार्थना की।

"स्वीकृत है " महाराज ने यमदण्ड को अवसर देने की स्वीकृति दी और जाने की आज्ञा दी।

चोर की ओर ज्वाला भरी दृष्टि से देखता हुआ यमदण्ड उसे निर्दयता पूर्वक घसीटता अपने गृह ले गया।

× × ×

इन दो दिनों में यमदण्ड ने सैकड़ों उपाय किए कि भिक्षुक अब भी अपना अपराध स्वीकृत कर ले। कशाघात से भिक्षुक के शरीर से रक्त चूने लगा, मारने पीटने से उसकी हड्डियाँ टूट गईं, पर उसने स्वीकृतिसूचक सिर भी न हिलाया।

यमदण्ड का क्रोध क्षण क्षण बढ़ता था। अनेक प्रकार से उसने भिक्षुक को पीड़ा पहुँचाई पर इसका कोई फल न निकला।

भिक्षुक के मुख से स्वीकृति का एक शब्द भी वह न कहला सका था।

"विद्युच्चर ! अब तुम मेरे हाथ में हो, बच नहीं सकते" अन्त में हार कर यमदण्ड ने उससे कहा।

पर जिसे विद्युच्चर कहा गया उसने इन शब्दों पर कोई ध्यान ही न दिया जैसे ये वाक्य उससे न कहे गये हों या वह विद्युच्चर से अपरिचित है।

निश्चित अवधि के अनन्तर यमदण्ड ने उसे राजसभा में उपस्थित अवश्य किया पर स्थिति कुछ सुधरी नहीं, वह पूर्ववत् अपने वक्तव्य पर दृढ़ था।

राजा ने यमदण्ड की ओर उसकी असफलतासूचक दृष्टि फेंकी।

"महाराज यह स्वीकृत करे या न करे, चोर यही है। मैंने भरसक चेष्टा की, पर इससे स्वीकृति न करा सका, इसकी हड्डियाँ टूट गईं, शरीर से रक्त बहने लगा, पर इसने स्वीकृत नहीं किया" यमदण्ड ने हाथ जोड़कर निवेदन किया।

"तुम भ्रम मे हो यमदण्ड" महाराज के मुस्कुरा कर उत्तर दिया। वे भिक्षुक की रक्षा के लिये उसे भी क्षमा करने को तैयार थे।

"मुझे चोरपरीक्षा में भ्रम नहीं हो सकता महाराज ! चोर यही है" यमदण्ड अपने वचन पर दृढ़ रहा।

महाराज विस्मित थे। नगररक्षक जिसे विश्वास और दृढ़तापूर्वक चोर कहता है, वह व्यक्ति सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी स्वीकार नहीं करता। यमदण्ड इस कला में विशेष दक्ष था अवश्य, पर उससे भी तो भूल हो सकती है। यह भी सम्भव है कि वह असफल होने पर निरपराध को ही दण्ड दिला कर अपनी रक्षा करना चाहता हो।

महाराज अन्त तक किसी भी निर्णय पर न पहुँच सके। हार कर उनने चोर की ओर देखा।

"मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ" उनने कहा।

चोर के ओठो पर हास्य की एक हलकी सी रेखा प्रस्फुटित हुई और उसने व्यंगभरी दृष्टि से यमदण्ड की ओर देखा।

"महाराज, यही ख्यात चोर विद्युच्चर है" यमदण्ड ने घबड़ा कर निवेदन किया।

"विद्युच्चर" महाराज ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा।

"वही विकट चोर जिससे पराजित होकर मुझे आपके राज्य में आश्रय लेना पड़ा था" यमदण्ड ने उत्तर दिया।

"विद्युच्चर !" महाराज ने भिक्षुक की ओर मुख फेरा "मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ, पर तुम सत्य स्वीकार करलो"

विद्युच्चर फिर भी चुप रहा।

"निर्भय होकर कहो, मैं तुम्हें अभयवचन दे चुका हूँ" महाराज उसे चुप देख कर बोले।

"यमदण्ड सत्य कहता है श्रीमान् !" विद्युच्चर ने स्वीकृत किया।

महाराज आश्चर्य मे डूब गए, सामन्त दग रह गए और यमदण्ड प्रसन्नता से फूल गया।

"तुम विद्युच्चर हो ! ख्यात चोर विद्युच्चर !" राजाने अविश्वास प्रकट किया।

"हाँ श्रीमान, कुख्यात विद्युच्चर मैं ही हूँ" विद्युच्चर ने विश्वास देना चाहा।

"तुमने इसके पूर्व स्वीकृत क्यों नहीं किया ?" महाराज ने प्रश्न किया।

"इसका उत्तर यमदण्ड दे सकता है श्रीमान्!" उसने उत्तर दिया।

महाराज ने यमदण्ड की ओर देखा और यमदण्ड ने सारी कथा सुना दी। कैसे यमदण्ड और विद्युच्चर में होड़ लगी और किस किस प्रकार से यमदण्ड को उसने पराजित करने का प्रयत्न किया, यमदण्ड ने सब सुना दिया।

"फिर इतना त्रास क्यों सहा?" महाराज ने दूसरा प्रश्न किया।

"नरक और निगोद में मैंने इससे भी अधिक त्रास सहा है महाराज, उसकी तुलना में इसकी क्या गिनती?" विद्युच्चर ने सरल वाणी में उत्तर दिया।

महाराज विद्युच्चर के इस उत्तर से गद्गद हो गए। विद्युच्चर से उन्हें स्नेह हो गया। उनने निश्चय किया उसके साथ अपनी पुत्री का पाणिग्रहण कराने का और अपना राज्य समर्पित कर देने का। विद्युच्चर से उन्होंने इसके लिये स्वीकृति माँगी।

"मुझे राज्य की अभिलाषा नहीं है महाराज, मुझे इससे घृणा है" विद्युच्चर ने उपेक्षापूर्वक उत्तर दिया।

"क्या कहते हो विद्युच्चर!" महाराज को विश्वास न हुआ।

"मैं सत्य कहता हूँ महाराज, मैं भी राजकुमार हूँ, मेरे पिता ने मुझे राज्य देना चाहा था, पर मैं उसे अस्वीकृत कर आया हूँ" विद्युच्चर ने आगे कहा।

"तुम राजकुमार हो! राजकुमार होकर चौरकर्म करते हो? महाराज ने आश्चर्य प्रकट किया।

"यमदण्ड को दिये गए वचन की पूर्ति के लिये ही मैंने चोरी की है महाराज! मुझे धन की आवश्यकता नहीं, मैं विभव नहीं चाहता, सुख और विलास से मैं तृप्त हो चुका हूँ,

मैं इन सबको त्यागना चाहता हूँ। अब तो मैं ग्रहण करूँगा तप और संयम। मुझे जाने की आज्ञा दीजिए" विद्युच्चर ने नम्र होकर प्रार्थना की।

"यमदण्ड मुझे क्षमा करो" वह यमदण्ड के गले लिपट गया। दोनों की आँखों से अश्रुधारा बह चली।

आज दीर्घकाल के अनन्तर दो मित्रों का मिलन हुआ था।

"राजकुमार स्थिर हो, अभी तुम्हारी अवस्था अल्प है। तपस्वी जीवन तुम्हारे योग्य नहीं"। महाराज ने करुणा भरे स्वर मे कहा।

"नहीं महाराज, मैं संसार की विडम्बना देख चुका। अब मैं सत्य की खोज करूँगा" उसने हाथ जोड़कर प्रार्थना की और चल दिया।

× × ×

दूसरे दिन निर्जन पर्वत की एक गुफा मे निर्वस्त्र और निश्चिन्त तपस्वी आत्मसाधन मे लीन था। वह कोई अन्य नहीं, राजकुमार विद्युच्चर ही था।

× × × ×

मोहनिवारण

मनुष्य भावुकता के आवेश में कभी कभी ऐसे कार्य स्वीकृत कर बैठता है जो उसकी शक्ति से परे होते हैं। स्वीकृत कर लेने से ही तो कार्य सम्पन्न हो नहीं जाता, कार्य तो करने से होता है। कोरी भावुकता का आवेग शान्त होने पर उसे अपनी दुर्बलता का ज्ञान होता है और तब अपनी भूल पर पश्चात्ताप भी होने लगता है। गृहीत व्रत उसे भार सा मालूम पड़ने लगता है। ऐसी अवस्था में उसके सन्मुख दो ही मार्ग रह जाते हैं, या तो वह अपनी अस्थायी भावुकता को वास्तविकता के आगे झुका दे अथवा भावुकता को वास्तविकता का रूप दे दे। प्रथम मार्ग अप्रशस्त और कायरों का है, द्वितीय मार्ग पर वीर ही चल सकते हैं।

मन्त्रिपुत्र सोमशर्मा बालसखा वारिषेण के साथ मित्रता निभाने के लिए उसका अनुकरण कर बैठा। वारिषेण की भाँति उसने भी साधुदीक्षा ले ली। वारीषेण सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार का यशस्वी पुत्र, जन्मतः क्षत्रिय और विचारों से दृढ़ था। सोमशर्मा ने सोचा 'जिस व्रत को मेरा मित्र दृढ़तापूर्वक पालन कर सकता है, क्या मैं उसे न निभा सकूंगा ?" पर उसने न यह न सोचा कि व्यक्ति की सामर्थ्य भिन्न भिन्न होती है। राजकुमार वारिषेण क्षत्रिय था और क्षत्रिय स्वभावतः दृढ़ होते हैं, चाहे युद्ध हो, चाहे संयम और तप, कुछ भी हो, पीछे पैर न हटाना उनका धर्म है। पर ब्राह्मण जन्मतः ब्राह्मण नहीं होते, उनकी शिक्षा ही उन्हें सच्चा ब्राह्मण बना सकती है। संस्कार और शिक्षा के अभाव में ब्राह्मण

मे वह शक्ति नहीं आ सकती कि वह ब्राह्मणत्व पर स्थिर रह सके। ब्राह्मण का धर्म है त्याग और निष्काम कर्म, पर प्रायः देखा जाता है कि ब्राह्मण को ही अधिक लोभ सताता है। संक्षेप मे, उसके सन्मुख दो रास्ते हैं, या तो वह शिखर पर चढ़े अथवा गर्त मे गिरे।

वारिषेण साधु बनने के लिए साधु हुआ था और सोमशर्मा मित्रता निभाने के लिए। इसलिए दोनों के आचरण और विचारों में भिन्नता थी। सोमशर्मा प्रसगवश पूर्वस्मृतियाँ जगाने की चेष्टा करता पर वारिषेण उस ओर ध्यान ही न देता था सोमशर्मा समझता, मेरा मित्र मुझसे रुष्ट हो गया है और वह वारिषेण को मनाने लगता, कभी कभी क्षमा माँगता, पर वारिषेण पर इसका कोई प्रभाव न पड़ता। वह अपने व्रत में लीन था।

× × ×

श्रमण भगवान महावीर की सभा में सभी प्राणियो को समानाधिकार रहता है। देव और अदेव, मनुष्य और पशु-पक्षी, सब ऊँच और नीच के भेद को भूल कर समान आसन पर बैठते हैं, परस्पर विरोधी प्राणी अपने वैर को भूलकर स्नेहार्द्र हो जाते हैं। विश्वबन्धुत्व का सच्चा आदर्श वहीं देखा जाता है।

सभाभवन ठसाठस भरा हुआ था। शिल्पी देवों ने उसके निर्माण करने में उच्च कला का परिचय दिया था। अशोकवृक्षों से मन्द सुगन्ध और शीतल वायु बह रही थी और जनता की क्लान्ति दूर करती थी।

स्त्री पुरुष, देव अदेव, साधु और गृहस्थ, अपने अपने समूहों में बैठते और भगवान के पवित्र दर्शन कर अपने को

कृतार्थ मानते थे। वारिषेण और सोमशर्मा भगवान् की पुनीत वाणी का पान करने के लिए साधुओं की पंक्ति मे बैठे थे।

किन्नरो और गन्धर्वों ने आकर भगवान की स्तुति की "प्रभु, आपने सांसारिक विभवसुन्दरी को त्याग कर मुक्ति लक्ष्मी को वरण किया है। वह बेचारी परित्यक्ता, आपके विरह मे दिनों दिन क्षीण हो रही है।"

देखा जाता है कि कभी कभी मनुष्य पर अच्छी शिक्षा का बुरा प्रभाव पड़ता है, त्याग की शिक्षा देने पर मनुष्य की प्रवृत्ति भोग की ओर आकृष्ट होती है। ठीक यही सोमशर्मा के साथ हुआ। भगवान के परित्याग की गाथा सुनकर उसे अपनी परित्यक्ता पत्नी की स्मृति जाग उठी। 'इतने दिनों के विरह मे उसकी क्या दशा हुई होगी' यह सोचते ही सोमशर्मा का मन उद्विग्न हो उठा। उसका मोह शान्त नहीं हुआ था बल्कि विस्मृत हो गया था। कारण उपस्थित होने पर वह पुनः प्रबल हो गया और सोमशर्मा आकुल हो उठा। भगवान का सभाभवन अब उसे सूना मालूम होने लगा। सोमिल्ला की रोती विलखती मूर्ति उसकी आँखों के सामने आ खड़ी हुई, और अब तो वह अपने को स्थिर न रख सका। सभाभवन से उठकर चल दिया।

सोमशर्मा के अचानक सभाभवनत्याग से वारिषेण को आश्चर्य तो हुआ, पर यथार्थ बात ज्ञात करते उन्हें देर न लगी। सोमशर्मा के चित्त की अस्थिरता से वे परिचित थे। मनुष्य की दुर्बलता अवसर अवसर पर उसे मार्ग से विचलित कर देती है पर उसका मूल्य इतने से ही नहीं आँका जा सकता। वारिषेण ने निश्चय किया, सोमशर्मा को मार्ग पर स्थिर करने का।

भगवान को प्रणाम कर वे सोमशर्मा के पीछे ही सभाभवन से निकल आए और उसके साथ हो लिए। मार्ग मे उनने

एक भी ऐसा शब्द न कहा और न ऐसा कोई व्यवहार ही किया जिससे सोमशर्मा को अपमान का अनुभव हो।

अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो अल्पबुद्धियों द्वारा कोई भूल या स्खलन हो जाने पर अनेक प्रकार के गर्हितवाक्य कहकर, गालियाँ देकर या प्रताड़ित कर उसे सुधारने का प्रयत्न करते हैं पर परिणाम विपरीत होता है। अड़नेवाला घोड़ा ताड़ना करने से उत्तेजित हो जाता है किन्तु पुचकारने से शान्त हो जाता है। ठीक यही दशा मनुष्य की भी है।

नगर मे प्रविष्ट होने पर वारिषेण सोमशर्मा को राजमहल मे ले गए। महारानी चेलना ने जब वारिषेण को अनवसर महल में प्रवेश करते देखा तो शंकित हुई 'कहीं यह अपने पथ से डिग कर न लौट आया हो।' रानी क्षत्राणी थी, उसे यह सह्य नहीं था कि उसका वीर पुत्र व्रत से मुँह मोड़े।

रानी ने वारिषेण की परीक्षा लेना चाही। दोनों साधुओ को बैठने के लिए दो आसन बिछा दिए। उनमे से एक तो सोने का था और दूसरा लकड़ी का। रानी की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा जब उसने वारिषेण को लकड़ी के आसन पर बैठते देखा। सोमशर्मा को स्वर्णासन पर बैठते कोई संकोच न हुआ। महारानी समझ गई कि सोमशर्मा वेष से साधु है, मन से नहीं, वह भक्तिपूर्वक वारिषेण को प्रणाम कर निम्न आसन पर बैठ गई।

"माँ, मेरी सभी पत्नियों को उनके पूर्ण शृङ्गार सहित यहाँ उपस्थित करो" वारिषेण ने महारानी से कहा।

इस आज्ञा को सुनकर महारानी अचम्भित रह गई। परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर भी वारिषेण के मुख से ये वचन सुनकर रानी को बड़ा आश्चर्य हुआ, वह कुछ समझ ही न सकी।

उसने सोचा वारिषेण से ही इसका प्रयोजन पूछूँ, पर फिर न जाने क्या सोचकर उसने वारिषेण की पत्नियों को उपस्थित होने की आज्ञा दे ही दी और सौन्दर्य में परस्पर होड़ करने वाली बत्तीस रानियाँ आँगन में आकर खड़ी हो गईं।

"सोमशर्मा! ये मेरी पत्नियाँ हैं, इन्हें भूलकर मैंने साधु-व्रत ग्रहण किया है। मेरे पिता के साम्राज्य के एकांश पर भी मेरा अधिकार है, यह सब मैं तुम्हें सौंपता हूँ, इन्हें स्वीकृत करो और संसार के सुख भोगो" वारिषेण ने सोमशर्मा से कहा। सोमशर्मा सामने खड़ी हुई इन सुन्दरियों की तुलना मे अपनी एकाक्षिणी ब्राह्मणी की सुध भूल गया। भला उसकी क्या गणना इनके सामने,वह सोच रहा था कि ये रति सी सुन्दरियाँ अपने पति को साधुवेष में देखकर कितनी विनम्र हैं। और कुमार वारिषेण का त्याग तो पर्वत सा उच्च है। वह आत्म ग्लानि में गलने लगा और उसे अपनी दुर्बलता एवं भूल का अनुभव हुआ। वारिषेण की महत्ता और अपनी तुच्छता का भेद आज उसकी समझ में आया। वह वारिषेण के चरणों में गिर पड़ा।

"मुझे कुछ न चाहिए कुमार, तुमने मुझे आज सच्चा रूप दिखाया है, तुम मेरे गुरु हो" उसने प्रार्थना की।

"सोमशर्मा, मन की दुर्बलता का यही परिणाम होता है" सोमशर्मा को पुनः स्थिर होते देख वारिषेण ने उसे समझाया।

"आज मैं विजयी हुआ कुमार, मुझे प्रायश्चित्त दो" सोमशर्मा ने कुमार से निवेदन किया।

वारिषेण सोमशर्मा को लेकर फिर वन की ओर चल दिए। महारानी चेलना जब उन दोनों अचेलकों को द्वार तक पहुँचाकर लौटी तो विशेष प्रसन्न थी।

× × × ×

अंजन निरंजन हो गया

अंजन जब दैनिक चौरकृत्य से निवृत्त हो अपनी प्रेमिका गणिका श्यामा के प्रकोष्ठ में प्रविष्ट हुआ तो उसे उन्मना देख उसको आश्चर्य हुआ। प्रचुर द्रव्य उसके सन्मुख रख देने पर भी जब उसका उदास मुख प्रसन्न न हुआ तो अंजन की चिन्ता बढ़ी, उसे अपने बारे में शंका होने लगी। 'कहीं मुझ से कोई अपराध तो नहीं बन गया, या मैंने कभी इसकी उपेक्षा तो नहीं की'।

"श्यामा, तुम उदास क्यों हो ?" अंजन ने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर पूछा।

श्यामा ने झटका देकर हाथ छुड़ा लिया और मुह दूसरी ओर फेर लिया।

"मुझसे कोई अपराध हुआ श्यामा, मैंने तुम्हारी कोई कामना पूरी नहीं की ?" अजन ने कातर स्वर मे प्रश्न किया।

श्यामा का मुख खुला। "तुम्हारे चोर होने से मुझे क्या लाभ, यदि मैं महारानी का रत्नहार धारण न कर सकी" "उसने रूठे स्वर में अपनी कामना प्रगट की।

"महारानी का रत्नहार !" अंजन ने आश्चर्य से पूछा।

"हॉ, आज ही मेरी दृष्टि उस पर पड़ी है, मेरी आखें चौंधिया गई थीं उसे देखकर ! तुम वह मुझे ला दो" श्यामा ने मुस्कुराकर कहा।

"महारानी का हार लाना कठिन है श्यामा" अंजन ने अपनी असमर्थता प्रगट की।

"तो तुम आज से मेरे प्रियतम नहीं" श्यामा फिर रूठ गई।

"ऐसा न कहो श्यामा, इतने दिनों का प्रेम योंही भुलाया नहीं जा सकता" अंजन ने अनुनय की।

"क्या तुम मेरे लिए महारानी का हार भी नहीं ला सकते ? प्रेम का यही रूप है ?" श्यामा ने प्रेम की दुहाई दी।

अंजन यद्यपि चोरकर्म में दक्ष था, तो भी राजप्रासाद में प्रविष्ट होकर चोरी करना सरल कार्य न था। प्रथम तो राजप्रासाद में प्रविष्ट होना ही दुष्कर था, फिर महारानी के गले से हार उतार लाना तो असंभव सा ही था। अंजन ने आज तक ऐसा दुस्साहस करने का विचार भी न किया था, किन्तु एक गणिका की इच्छापूर्ति के लिये आज उसे यह अशक्य कार्य करने का निश्चय करना पड़ा।

श्यामा प्रेम का कितना भी प्रदर्शन करे, पर थी तो वह वेश्या ही। अंजन के जीवन से उसे इतना ही प्रयोजन था कि वह उस के लिए प्रचुर धन, सुंदर आभूषण और नवीन नवीन बहुमूल्य वस्त्र लाकर देता रहे, उसका प्रेम अंजन के कृत्यों से था, उस के जीवन से नहीं, अन्यथा राजप्रासाद में चोरी करने के प्रयत्न से उपस्थित होनेवाली आपत्तियों की कल्पना कर वह उसे कदापि ऐसा करने का आदेश न देती।

अंजन श्यामा को असन्तुष्ट नहीं करना चाहता था। धन-द्रव्य की बात ही क्या, अवसर आने पर वह अपने प्राण भी उसे समर्पित कर सकता था। वेश्या की प्रीति को वह स्थायी समझ बैठा था, उसे इसका ज्ञान न था कि वेश्या की प्रीति मनुष्य से नहीं उसके विभव से होती है।

"अच्छा, मैं जाता हूं श्यामा, महारानी का हार लेकर ही यहाँ उपस्थित होऊँगा" अंजन ने कहा और वेग से चला गया।

श्यामा देखती ही रह गई। वह अपना प्रेम प्रदर्शित करना चाहती थी पर उसे अवसर ही न मिला।"

× × ×

कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि वैसे ही भयावनी होती है पर उसकी भयानकता उस समय और भी बढ जाती है जब वर्षा हो रही हो, आँधी का वेग तीव्र हो और बिजली विकट कड़क के साथ बीच बीच में आकाश मे लहरा जाती हो। साधारण लोगों के लिए यह समय भय और त्रास का कारण होता है पर वीर पुरुष अपनी कार्यसिद्धि के लिए ऐसे ही समय की कामना करते है। योगी की योगसाधना ऐसे समय मे सरल हो जाती है, साधु की दृढ़ता और निर्भयता की परीक्षा यही समय करता है और चोरों के कार्य मे यही अवसर सहायक होता है। वर्षा और आँधी के वेग से त्रस्त गृहस्थ जब आँख बंदकर पड़े रहते हैं, रक्षक अव्यस्थित और कर्तव्य से स्खलित हो जाते हैं, किसी को कुछ सूझता नहीं, तभी तो निशाचर अपना कार्य सरलता से कर लेते हैं।

अंजन ने यही अवसर उपयुक्त समझा अपनी कार्यसिद्धि के लिए। 'आँधी पानी के वेग के समय रक्षक अवश्य अव्यवस्थित हो गए होंगे' उसने मनही मन निश्चय किया और चल दिया अपने निश्चय के पथ पर।

नगररक्षकों से अपने को छिपाता हुआ वह राजप्रासाद तक पहुँच तो गया पर प्रासाद में प्रविष्ट होना संभव न था। अंजन की आशा के विपरीत इस विकट समय मे भी रक्षक अपने कर्तव्य पर स्थिर थे, कहीं से भी प्रासाद में प्रविष्ट होने को राह नहीं थी। पर अंजन का निश्चय दृढ़ निश्चय था। उसे महा-

रानी के रत्नहार की आवश्यकता है और वह उसे अवश्य हस्तगत करेगा। काले वस्त्रों में से उसने एक गुटिका निकाली, और अपनी आँखों की कोरों मे फेर ली। यह विचित्र गुटिका और कुछ नहीं, एक विशिष्ट अंजन था जिसे अंजन विशिष्ट अवसरों पर ही व्यवहार मे लाता था। अब उसे कोई न देख सकता था। रक्षकों की आँखें व्यर्थ हो गईं और वह सम्हल सम्हल कर दबे पैरो प्रासाद मे प्रविष्ट हो गया।

महारानी का रत्नहार चुरा लेना और अपने को छिपा लेना अंजन के लिए कठिन कार्य न था पर हार को लेकर बाहिर निकल आना सरल न था। उसने महारानी के गले से हार निकाल तो लिया पर उसे छिपा न सका। यद्यपि रक्षक उसे अभी तक देख न पाये थे, पर हार की चमक और कान्ति छिपाई न जा सकी, अनेक वस्त्रों में लपेटे जाने पर भी रत्नों की प्रकाश-शक्ति कुंठित नहीं की जा सकी।

अकस्मात् 'चोर' 'चोर' का स्वर चारो ओर गूँज उठा। अंजन को अपनी भूल मालूम हुई, स्पष्ट था कि रत्नों की कान्ति ने रक्षकों को चोरी का ज्ञान करा दिया था। उसे अब अपने प्राणों की चिन्ता हुई। वह भागा पर दूसरे ही क्षण उसे अनुभव हुआ कि मैं हार लेकर किसी प्रकार नहीं बच सकता, उनकी दीप्ति के कारण मै छिप नहीं सकता। हार की अपेक्षा प्राणरक्षा का उसने विशेष महत्त्व समझा और रत्नहार को फेंक शीघ्रता से वहाँ से भाग निकला। व्यवहृत अंजन के कारण उसे कोई न देख सका, यद्यपि चारों ओर 'चोर चोर' का हल्ला हो रहा था और अंजन को अपनी प्राणरक्षा में शंका होने लगी थी।

× × × ×

अंजन की प्राणरक्षा तो हुई पर अब उसे कोई आश्रय न था। श्यामा का गृह रत्नहार के अभाव में उसका कभी स्वागत न करता, अंजन को स्वयं उसके गृह जाने का साहस न हुआ। नगर में अन्य कोई ऐसा स्थान न था जहाँ वह छिप सकता।

राजप्रासाद की चोरी असाधारण घटना थी और रक्षक विशेष सतर्क हो गए थे। चारों ओर रक्षकों की टोलियाँ दौड़-धूप कर रहीं थीं। उनकी गति से स्पष्ट मालूम होता था कि वे चोर की टोह में हैं।

अंजन ने निश्चय किया नगर का परित्याग करने का। गणिका की प्रीति की अस्थिरता अब उसे अनुभव हुई। प्राणों का मूल्य देकर भी उसने जिसकी इच्छापूर्ति करनी चाही थी उसी ने उसके प्राणों को आपत्ति मे डालने का प्रयास किया था। अब उसे श्यामा से घृणा होने लगी। अपने कृत्य पर उसे पश्चात्ताप हो रहा था। आज वह असहाय था, कोई उसका आश्रयदाता न था। उसके कृत्य से लोग आतंकित थे और उसे घृणा करते थे। नगर में कोई उसे अच्छा नहीं समझता, कोई उसे प्यार नहीं करता। एक बार उसके मनमें आया 'रक्षकों के हाथ आत्म-समर्पण कर दें और अपने पापों का दण्ड भोगे' पर दूसरे ही क्षण प्राणों का मोह प्रबल हो उठा। उसने निश्चय किया कि इस बार रक्षा होने पर कभी यह पापकृत्य न करूँगा।

× × × ×

शून्य श्मशान में अंजन जब पहुँचा तो उसे कुछ निराशा सी हुई। उसे अनुभव हुआ कि स्थान निर्जन नहीं है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई और भी यहाँ है। जब वह नगर से भागा था तो उसने सोचा था कि श्मशान में रात्रि चिता कर प्रातः ही

अपने पापों का प्रायश्चित करूँगा, पर इस निर्जन स्थान में पहुँच कर भी उसे शान्ति न मिली। जहाँ वह एकान्तवास करना चाहता था वहाँ भी एक बाधा उपस्थित हुई। अंजन ने श्मशान से लौटने का निश्चय किया पर फिर सोचा कि संभव है यह व्यक्ति भी मेरे सदृश कोई पापी ही हो और अपने पापों का प्रायश्चित करने यहाँ आया हो। वह आगे बढ़ा। अब सभी बातें उसे स्पष्ट हो गईं, एक विशाल वृक्ष के नीचे अनेक तीक्ष्ण अस्त्र गड़े हुए हैं, वृक्ष की एक शाखा में झूला बँधा हुआ है और एक सम्भ्रान्त व्यक्ति पुनः पुनः वृक्ष पर चढ़ता और उतरता है। अंजन इस खेल को बड़ी देर तक देखता रहा पर इसका रहस्य न समझ सका। उसकी जिज्ञासा बढ़ी और अंत में उसने उस व्यक्ति के कार्य में बाधा देना ही उपयुक्त समझा। उसने सोचा सभव है, यह प्रायश्चित्त का कोई तरीका हो।

"तुम किस कार्य का प्रायश्चित्त कर रहे हो भाई ?" उसने प्रश्न किया।

दूसरे व्यक्ति के कार्य मे बाधा पहुँची, वह स्थिर हो गया। वास्तव में वह इस से प्रसन्न ही हुआ। निर्जन श्मशान की शून्यता और भयावहता उसे मन ही मन डरा रही थी, अब अन्य व्यक्ति को अपने समीप देख उसे ढाढ़स बँधा। वह अंजन के समीप पहुँचा जो अंजन पोंछ लेने से अब दृष्टिगोचर होने लगा था।

अंजन अभी भी उस खेल को न समझ पाया था, नुकीले अस्त्रों की ओर संकेत कर उसने उस व्यक्ति से पूछा "तुम क्या कर रहे थे भाई ?"

"मैं आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर रहा था, पर मुझे उसकी प्राप्ति मे विश्वास नहीं होता।" प्रथम व्यक्ति ने उत्तर दिया।

"क्यों ?" अंजन ने जिज्ञासा प्रगट की।

"मेरा नाम सोमदत्त है, मेरे मित्र सेठ जिनदत्त नित्य आकाशमार्ग से जिनचैत्यों की अर्चना करने जाते हैं। मेरी जिज्ञासा के उत्तर में उन्होंने मुझे वह शक्ति प्राप्त करने की यह विधि बताई है" सोमदत्त नामवाले व्यक्ति ने उत्तर दिया।

"तो फिर आप इसे विधिपूर्वक सिद्ध क्यों नहीं कर लेते ?" अंजन ने सोमदत्त से कहा।

"मुझे शंका हो रही है भाई, यदि कहीं सेठ जिनदत्त ने झूठ कहा हो तो मेरे प्राण बचने के नहीं" अस्त्रों की ओर भयत्रस्त दृष्टि फेंकते हुए उसने उत्तर दिया।

अंजन ने सोचा, मेरे प्राण हर घड़ी आपत्ति में हैं। न जाने कब मैं पकड़ लिया जाऊँ और प्राणदण्ड हो जाए, फिर क्यों न मैं इस अवसर से लाभ उठाऊँ। उसे विश्वास हो गया था कि विद्या-सिद्धि की विधि पूर्ण सत्य है और उसने यह भी जान लिया था कि सोमदत्त का हृदय दुर्बल है।

"यदि तुम्हें शंका है तो मुझे चेष्टा करने दो भाई" अंजन ने सोमदत्त से आज्ञा माँगी।

सोमदत्त बहुत प्रसन्न हुआ, उसने सोचा "सिद्धि की सत्यता की परीक्षा अभी सामने हुई जाती है"।

"अवश्य" उसने प्रसन्न होकर कहा।

× × × ×

निश्शंक अंजन झूले पर जा बैठा। पञ्चनमस्कार मन्त्र उसके मुख से ध्वनित हो रहा था और झूले की रस्सियाँ एक एक कर कट रहीं थीं। सोमदत्त का हृदय क्षण क्षण काँप रहा था। क्रमशः एक सौ सात रस्सियाँ कट चुकी थीं, स्पष्ट था कि

अन्तिम रस्सी कटते ही अंजन झूले सहित नीचे गड़े हुए नुकीले और प्राणघातक अस्त्रों के बीच गिरेगा और उसका शरीर छिन्न-भिन्न हो जाएगा। पर सोमदत्त के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने देखा कि एक दिव्य सुन्दरी ने आकर उसे बीच मे ही हाथों में रोक दिया।

चारों ओर प्रकाश छा गया। अंजन को अपनी सफलता का ज्ञान हुआ, पर सफलता के पश्चात् वीरों को हर्ष नहीं होता, उन्हें उपेक्षा होने लगती है। अंजन ने सोचा, जो मंत्र दो चार क्षण में ही इतना लाभ कराता है वह आजीवन साधना करने पर तो न जाने कितनी विभूति देगा। आज उसे अनुभव हुआ कि मैं कितना गर्हित जीवन बिता रहा था।

"मैं सेठ जिनदत्त से मिलूँगा" सोमदत्त से उसने विनय-पूर्वक विदा माँगी।

× × × ×

विद्या की सहायता से अंजन दो क्षण में ही सेठ जिनदत्त के गृह पहुँच गया और पहुँचते ही वह उनके चरणों में गिर पड़ा।

"आप मेरे गुरु हैं, मुझे प्रशस्त मार्ग दिखाइए" उसने सेठ से प्रार्थना की।

सेठ इस अपरिचित विनय से आश्चर्यित हुए, "मैं तुम्हारा गुरु ?" वे चकित थे।

अंजन ने उन्हें सारी घटना सुना दी जिसे सुनकर सेठ के हर्ष का पार न रहा। वे समझ गए कि यह व्यक्ति दृढ़ और आसन्नभव्य है। उनने अंजन को वह मार्ग दिखाया कि अंजन सदा के लिए निरंजन हो गया।

× × × ×

सौन्दर्य की परख

चक्रवर्ती सम्राट अपने अपार विभव और प्रचण्ड शासन द्वारा प्रजा के हृदय में आश्चर्य और भय की ही सृष्टि करता है। लोग उसके सन्मुख जाने का साहस नहीं करते, उसका नाम सुनकर कम्पित हो जाते हैं और उनके हृदय धड़कने लगते हैं। चक्रवर्ती की सम्पत्ति और सामर्थ्य की गाथा सुनकर लोग दाँतो तले अँगुली दबाते हैं। जनता उसकी सेवा करती है, बड़े बड़े सामन्त उसे मस्तक झुकाते हैं, विद्वान् उसके विरुद गाते हैं। सभी उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते हैं, पर हृदय से कोई स्नेह नहीं करता। अपनी शक्ति के बल पर वह प्रजा से सेवा, आदर, सभी कुछ प्राप्त कर लेता है, पर स्नेह उसे कहीं नहीं मिलता।

चक्रवर्ती सनत्कुमार सम्राट तो था ही पर उसमें एक ऐसी विशेष शक्ति और थी जो अन्य सम्राटों मे नहीं होती। साधारणतः सम्राटों को विकराल जन्तु समझा जाता है, पर चक्रवर्ती सनत्कुमार को लोग अपना आत्मीय समझते थे, उसके प्रति आकृष्ट थे, और यह आकर्षणशक्ति थी उसका सौन्दर्य।

लोग उसे कामदेव का अवतार मानते थे और हर घड़ी अपनी आँखों से उसकी सौन्दर्यसुधा का पान करने के अभिलाषी थे। भयत्रस्त हो दूर नहीं भागते थे, घण्टों टकटकी लगाये उसके मुख की ओर निहारते रह जाते थे। उसके दीप्त सौन्दर्य की कथा संसार के कोने कोने मे गाई जाती थी और संसार के सुन्दर व्यक्तियों मे उसका प्रथम स्थान था।

× × × ×

देवों की सभा मे एक दिन प्रसङ्गवश देवेन्द्र ने चक्रवर्ती के सौन्दर्य की प्रशंसा की। जयन्त और वैजयन्त नामक दो देवों को देवेन्द्र के इस कथन पर विश्वास न हुआ। चक्रवर्ती के सौन्दर्य के दर्शन करने वे मध्य लोक में अवतरित हुए और साधारण मानवरूप धारण कर सीधे चक्रवर्ती के प्रासाद पहुँचे। द्वारस्थ रक्षक को अपने आने की सूचना दरबार तक पहुँचा देने का आदेश देकर वे चक्रवर्ती के आदेश की प्रतीक्षा करने लगे।

चक्रवर्ती उस समय स्नानागार मे था। प्रतीहार के निवेदन करने पर दोनों अभ्यागतों को सम्मानपूर्वक बिठाने की आज्ञा दी। और दो घड़ी मे दर्शन देने की सूचना दी।

देवों को प्रतीहार द्वारा जब यह विदित हुआ कि चक्रवर्ती स्नानागार में है, तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। चक्रवर्ती के नग्न सौन्दर्य के दर्शन कर सकने का इससे अच्छा अवसर उन्हें फिर न मिल सकता था। आभूषण और अन्य आभरणों से तो हर कोई अप्राकृतिक सौन्दर्य की रचना कर सकता है पर नैसर्गिक सौन्दर्य तो निरपेक्ष और निर्विकार ही होता है, वही सत्य होता है और शिव भी।

देवों ने कुशलता से अपने शरीर को इतना सूक्ष्म बना लिया कि वे मनुष्यों के दृष्टिगोचर न हो सकें और गुप्त रूप से चक्रवर्ती के स्नानागार में जा पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने जो देखा उस पर उन्हें सहसा विश्वास न हुआ। चक्रवर्ती स्नान-क्रिया में रत था। आभूषणविहीन, वेशभूषारहित, पुष्ट और मॉसल दृढ़ मानव शरीर! देवों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। ऐसा सौन्दर्य तो उन्होंने देवलोक में भी नहीं देखा।

चक्रवर्ती का शरीर कुन्दन सा चमक रहा था। दीर्घ भुजाएँ, विस्तृत वक्षस्थल और प्रदीप्त चेहरा, बड़ी बड़ी आँखें और उन्नत

ललाट। देवों को आज विश्वास हुआ कि मनुष्य भी सौन्दर्य में उन से उच्च हो सकता है। इनका गर्व पराजित हुआ और वे चक्रवर्ती का रूप देखकर मुग्ध हो गए। देवेन्द्र के कथन की सत्यता का उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया।

× × × ×

चक्रवती जब वस्त्राभूषण से सज्जित होकर आया तो देवों ने उठकर अभिवादन किया।

"कैसे कष्ट किया आपने?" चक्रवर्ती ने मधुर वाणी में प्रश्न किया।

"श्रीमान् के सौन्दर्य की कीर्ति सुनकर हमें दर्शन की अभिलाषा हुई थी" देवों ने एक साथ उत्तर दिया।

"वह पूरी हुई या नहीं?" चक्रवर्ती ने किञ्चित स्मितपूर्वक प्रश्न किया।

"हो गई श्रीमान् पर .." एक देव ने कुछ कहना चाहा पर बीच में ही रुक गया और चक्रवर्ती के मुख की ओर देखने लगा।

"पर क्या हुआ?" चक्रवर्ती ने आश्चर्य से पूछा।

"अपराध क्षमा हो श्रीमान्! जो सौन्दर्य हमने दो घड़ी पूर्व देखा था, अब उसमे किञ्चित् क्षीणता आ गई है" उसने उत्तर दिया।

'क्या परिवर्तन देखा आपने मेरे शरीर में?" चक्रवर्ती की उत्सुकता बढ़ी।

"हम देवलोक से आ रहे हैं श्रीमान्, हमने आपके प्रथम दर्शन आप के स्नानगृह में किए थे। वस्त्राभूपणविहीन होने पर भी आपके शरीर की सौन्दर्यश्री उस समय जितनी थी अब आभू-

णादि से सज्जित होने पर भी वह उतनी नहीं रही" दूसरे देव ने चक्रवर्ती की उत्सुकता का निवारण किया।

चक्रवर्ती को देवों के कथन पर आश्चर्य तो हुआ ही, साथ ही साथ आशङ्का भी हुई। सम्मुख स्थित पुरुषप्रमाण दर्पण मे प्रतिबिम्बित अपने अंग अंग पर दृष्टि डाल कर उसने देवों को उत्तर दिया "आप के कथन पर विश्वास नहीं होता"

"श्रीमान्, इसका आप स्वयं अनुभव नहीं कर सकते। प्रत्येक वस्तु में क्षण क्षण परिवर्तन होता है, इसे सूक्ष्मदृष्टि व्यक्ति ही लक्षित कर सकते हैं। बालक बढ़कर बूढ़ा हो जाता है। क्या वैसा एक ही दिन में होता है?" देवो ने चक्रवर्ती को समझाने की चेष्टा की।

"नहीं, दिन दिन के परिवर्तन से ही वह इस अवस्था तक पहुँचता है" चक्रवर्ती ने उत्तर दिया।

"दिन दिन नहीं श्रीमान्, क्षण क्षण, पल पल, सदा उसमें परिवर्तन होता रहता है और हम इसे लक्षित नहीं कर पाते" दूसरे देव ने चक्रवर्ती से कहा।

"ठीक है" चक्रवर्ती ने स्वीकृत किया।

"इसी प्रकार आपके सौन्दर्य में क्षणक्षण क्षीणता आ रही है श्रीमान्, जो कल था, वह आज नहीं, और जो आज है वह कल नही रहेगा" दूसरे देव ने अपनी बात चक्रवर्ती के हृदय में उतार दी।

"एक दिन मेरा सौन्दर्य नष्ट हो जाएगा!" चक्रवर्ती भविष्य की कल्पना कर काँप उठा, संसार का सत्य स्वरूप उसके सामने नाचने लगा।

"आपने यथार्थ कहा महाशय, प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, यह विभव, यह शासन, यह शरीर, यह सौन्दर्य और यह यौवन

किसी न किसी क्षण नष्ट होंगे ही। मैं आपका कृतज्ञ हूँ कि आपने मेरी भूली आत्मा को सत्पथ के दर्शन कराए" चक्रवर्ती ने कृतज्ञ होकर देवों से कहा।

देवों ने देखा कि चक्रवर्ती की दिव्य ज्योति जाग गई। उनने चक्रवर्ती का अभिनन्दन किया और विदा ली।

दूसरे दिन पुत्र को राजसिंहासन सौंप कर चक्रवर्ती सनत्कुमार वनकी ओर चल दिया।

× × × ×

वर्षों बीत गए। चक्रवर्ती सनत्कुमार अब संयम चक्रवर्ती हो गए थे। सदा विलास में लीन रहने वाला आज पर्वतगुहाओं और गहन वन की कटीली भूमि में तप में लीन रहता था। उपभुक्त सुख अब उसे विस्मृत हो चुके थे और अब उसकी एक मात्र आकांक्षा थी सांसारिक दुखों से मुक्ति।

नियति को आज तक कोई पराजित नहीं कर सका। अच्छे अच्छे तपस्वी और समृद्ध महापुरुष भी उसके चक्र में फँस जाते हैं और उन्हें उसकी आधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। तपस्वी सनत्कुमार पर भी उसने अपना चक्र चलाया। उनका सारा शरीर रुग्ण हो गया, कोढ़ अङ्ग अङ्ग से चूने लगा और दुर्गन्ध के मारे लोगों को उनके समीप में खड़े होने का भी साहस न होता था। पर तपस्वी को इसकी चिन्ता न थी। रोग कहता 'तपस्वी, मैं तुझे इतनी पीड़ा दूँगा कि तुझे पराजय स्वीकार करनी पड़ेगी'। तपस्वी उत्तर देता 'मुझे डिगाने की सामर्थ्य तुझमे है ही कहाँ ?" दोनो मे संघर्ष छिड गया, रोग दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया और तपस्वी का सौन्दर्यगर्वित शरीर क्रमशः गल गल कर कटने लगा।

× × ×

गुहा में बैठा तपस्वी विचार रहा था कि मेरा सौन्दर्यगर्व व्यर्थ था। अब कहाँ गया वह सौन्दर्य और उसके स्थान पर आ गया यह विकृत रूप। संसार की यही गति है। तपस्वी को प्रसन्नता हो रही थी कि वह समय रहते चेत गया।

दो पुरुषों ने आकर तपस्वी को नमस्कार किया।

"साधुश्रेष्ठ, हम आप की सेवा करना चाहते हैं" उनमें से एक ने प्रार्थना की।

"कैसी सेवा भाई ?" तपस्वी ने जिज्ञासा प्रकट की। उसे किसी भी प्रकार की सेवा की आवश्यकता न थी।

"हम आपका रोग नष्ट कर आपका शरीर पूर्ववत् स्वस्थ और सुन्दर बनाने की आज्ञा चाहते है" दूसरे ने निवेदन किया।

"आप वैद्य हैं क्या ?" तपस्वी ने प्रश्न किया।

"हाँ महाराज" प्रथम व्यक्ति ने नम्रता पूर्वकउत्तर दिया।
"तो आप मेरी आत्मा को रोगमुक्त करने की चेष्टा करें, मुझे वह औषधि बताएँ जिससे मेरा भवरोग नष्ट हो जाए। इस शरीर की चिन्ता मुझे नहीं, यह तो एक दिन नष्ट होगा ही, फिर चाहे वह सड़ा गला रहे अथवा स्वस्थ और सुन्दर। मुझे तो अपनी आत्मा को सुन्दर बनाना है महोदय। शारीरिक सौन्दर्य सत्य नहीं होता और न शिव ही।" वैद्यों की सेवा को तपस्वी ने अस्वीकृत किया।

दोनों व्यक्ति तपस्वी के इस उत्तर से आश्चर्यचकित हो गए। उनने तपस्वी को साष्टाङ्ग नमस्कार किया और निवेदन किया "धन्य हैं महाराज आप, हम वही देव हैं जो आपके सुन्दर रूप के दर्शन करने गए थे"।

"आप लोगों का कृतज्ञ हूँ मैं, आप सच्चे वैद्य हैं। आप ने

ही मुझे विकट रोग से मुक्त होने का रास्ता दिखाया" तपस्वी ने उत्तर दिया।

दोनों देव अपने असली रूप में प्रकट हुए और तपस्वी के चरणों मे गिर पड़े।

तपस्वी ने उन्हें आशीर्वाद देकर विदा किया।

× × × ×

तपके तेज से तपस्वी सनत्कुमार का शरीर तो प्रदीप्त हुआ ही, उसकी आत्मा भी प्रदीप्त हो गई और उसे पूर्ण ज्ञान का लाभ हुआ।

पृथ्वी का चक्रवर्ती अब धर्मचक्रवर्ती हो गया था। उसे ऐसे सौंदर्य की प्राप्ति हुई थी जो अजर और अमर था।

वसन्तसेना

अनेक प्रयत्न करने पर भी जब चारुदत्त के विरक्त चित्त को गृहकार्य मे अनुरक्त न किया जा सका तो चारुदत्त की माता ने उसके चाचा रुद्रदत्त से प्रार्थना की कि तुम चारुदत्त की रक्षा करो, उसे साधु होने से रोको और व्रतादि के जञ्जाल से छुड़ाओ। रुद्रदत्त था तो महाधूर्त पर चारुदत्त को फुसलाना भी सरल काम न था, विभव सम्पन्न होने पर भी वह विलास से दूर भागता था और दिन रात भगवद्भक्ति मे लगा रहता था। छप्पन करोड़ दीनारों का क्या होगा? इसकी उसे जरा सी भी चिन्ता न थी।

रुद्रदत्त सदा चारुदत्त के साथ रहता था, आग्रहपूर्वक उसे विभिन्न स्थानों पर भ्रमण कराने ले जाता, अनेक नवीन स्थानों और पुरुषो से परिचय कराता और इस प्रकार मन रमाने की चेष्टा करता। पर चारुदत्त पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। रुद्रदत्त अपनी असफलता पर दुःखी अवश्य था, पर उसने अपना प्रयत्न छोड़ा नहीं।

चारुदत्त की अनिच्छा रहते हुए भी एक दिन वह उसे नगरी की प्रसिद्ध गणिका वसन्तसेना के प्रकोष्ठ मे ले गया। चारुदत्त का यह प्रथम अवसर था किसी गणिका के प्रकोष्ठ में प्रविष्ट होने का, उसका शरीर कॉप रहा था, कण्ठ सूख गया था और ग्लानि से वह दबा जा रहा था। उसने देखा, अपूर्व सुन्दरी वसन्तसेना उसका स्वागत कर रही है। उसे कुछ सूझता ही न था कि वह क्या कहे और क्या करे। भाग निकलना असभ्यता होगी और आगे बढ़ने का साहस न होता था।

"चारुदत्त बैठो" रुद्रदत्त ने उसका हाथ पकड़ कर बैठा लिया।

चारुदत्त विरोध न कर सका और बैठ गया। संकोच के मारे उसका मस्तक ऊंचा न होता था, वसन्तसेना के सौन्दर्य को निहारने की उत्सुकता अवश्य होती पर साहस न होता। कभी कभी कनखियों से देखने की चेष्टा करता अवश्य पर वसन्तसेना से दृष्टि मिलते ही उसका सिर नत हो जाता था।

"वसन्तसेना, कुछ गाओ" रुद्रदत्त ने वसन्तसेना से अनुरोध किया। वसन्तसेना ने अनुरोध स्वीकृत किया और दूसरे क्षण वाद्यों की मधुर ध्वनि के साथ संगीतलहरी बह चली। गान अपूर्व था, चारुदत्त ने आज तक इतना मधुर संगीत कभी न सुना था।

वसन्तसेना गा अवश्य रही थी, पर उसके स्वर में पीड़ा थी। उसकी आँखें चारुदत्त पर स्थिर थीं। स्यात् उसका अध्ययन कर रहीं हों या कह रही हों "तुम यहाँ क्यो आए ?"

गान समाप्त हुआ और साथ ही साथ चारुदत्त के हृदय में घाव कर गया। रुद्रदत्त को अन्तिम प्रयत्न में सफलता मिली, चारुदत्त का वसन्तसेना के प्रति आकर्षण प्रारम्भ हुआ।

जब दोनों विदा हुए तो वसन्तसेना ने दबे स्वर में प्रार्थना की, "महोदय, पुनः दर्शन दीजियेगा।"

× × × ×

वसन्तसेना के अनुरोध ने चारुदत्त के हृदय मे गुदगुदी पैदा कर दी। 'वसन्त सेना मेरे प्रति आकर्षित है, सम्भव है, प्रेम भी करती हो' उसने सोचा। 'यह तो गणिका की चाल है' मस्तिष्क ने एक शंका को जन्म दिया पर हृदय ने उसे अस्वी-

कृत कर दिया। उसने विचार किया 'वसन्तसेना नारी है और नारी का हृदय उदार होता है, प्रेम का अंकुर अनायास ही उसमें फूट पड़ता है।'

उथल पुथल मच रही थी चारुदत्त के हृदय में, वसन्तसेना का सरल और सुन्दर मुख उसकी आँखों में बस गया था, रह रह कर सामने नाचने लगता; उसके मधुर संगीत की लय चारुदत्त के कानों मे गूँजने लगी और वह लालायित हो उठा वसन्तसेना के दर्शन करने, मधुर संगीत सुनने और उससे आलाप करने के लिए। अब उसे व्रत और धर्म की चिन्ता न रही, लोकलज्जा का भय जाता रहा।

सायंकाल होते ही वह प्रचुर द्रव्य लेकर वसन्तसेना के गृह की ओर चला। उसके हृदय में एक बार विचार उठा "शास्त्र वेश्यागमन का निषेध करते हैं" पर फिर उसने इसका समाधान भी कर दिया।

"वसन्तसेना मुझसे प्रेम करती है, मैं भी वसन्तसेना को प्रेम करता हूँ, इसमें पाप ही क्या? दो प्राणियों के आन्तरिक सम्बन्ध मे शास्त्रों को आपत्ति क्यों?"

चारुदत्त को देखते ही वसन्तसेना का हृदय कली सा खिल गया। चारुदत्त के जाने के समय से ही वह उसकी भोली सूरत का काल्पनिक चित्र खींच रही थी। चारुदत्त की संकोचशील आँखें उस के हृदय में घर कर गई थीं। वह उसके प्रति आकृष्ट हो गई थी और तभी से उसकी चिन्ता करती उन्मना बैठी थी।

चारुदत्त के प्रविष्ट होने पर सर्वप्रथम उसका स्वागत किया वसन्तसेना की माँ ने, वह पुरुष को परखने में विशेष दक्ष थी, चारुदत्त के आचरण से उसने भली-भाँति ज्ञात कर लिया कि

चारुदत्त भावुक है। वह मन ही मन हर्षित हो रही थी कि चारुदत्त जैसा सम्पन्न व्यक्ति उसके हाथों में है। चारुदत्त की दुर्बलता का लाभ उठाकर उसने उसकी सम्पत्ति अधिकृत कर लेने का निश्चय कर लिया था।

वसन्तसेना अपनी माँ की दुष्ट कामना से परिचित थी। वह चाहती थी कि चारुदत्त अधिक उदार न बने, उसके भविष्य की कल्पना कर वह त्रस्त हो उठती थी।

दिन पर दिन चारुदत्त और वसन्तसेना का प्रेम बढ़ता जाता था। दोनों एक दूसरे का क्षणिक विरह भी न सह सकते थे। वसन्तसेना का प्रकोष्ठ ही अब चारुदत्त का गृह बन गया था, और वह सदा वसन्तसेना के ही पास रहता था। इन दोनो का प्रेम देख वसन्तसेना की माँ विशेष चिन्तित हुई। वेश्या की पुत्री प्रेम करने के लिए जन्म नहीं लेती। उसे तो अपना व्यवसाय प्रिय होता है, वह प्रेम का नाटक खेलती है। पर वसन्तसेना तो ठीक इसके विपरीत मार्ग अवलम्बित कर चुकी थी, वह तो यथार्थ प्रेम कर बैठी थी।

चारुदत्त की सम्पत्ति दिनोंदिन क्षीण होती जा रही थी। वसन्तसेना की माँ उसे शीघ्रता से हथिया रही थी और एक दिन ऐसा आया कि वसन्तसेना की आशका सत्य में परिणत होगई। चारुदत्त के कोष में एक भी दीनार शेष न रही।

"वसन्तसेना, अब मैं निर्धन हूँ, मुझे विदा दो" चारुदत्त ने वसन्तसेना से कहा।

वसन्तसेना को ये शब्द तीर की भाँति चुभे, आज तक उसने कभी चारुदत्त से धन की याचना न की थी, उसे चारुदत्त से प्रेम था उसके धन से नहीं।

"मेरा धन तुम्हारा ही धन है चारु" उसने उत्तर दिया।

"वेश्या के धन से जीना अभिशाप है वसन्त" चारुदत्त का कुलाभिमान अब भी जागृत था।

वसन्तसेना के हृदय पर एक और घातक आघात हुआ। 'चारुदत्त उसे गणिका ही समझता है और उसकी सम्पत्ति को भिन्न मानता है' उसकी आँखों में आँसू भर आए।

"मैं आपकी दासी हूँ नाथ" वह चारुदत्त के चरणों में गिर पड़ी। "मुझे अन्य न समझिए" उसने प्रार्थना की।

चारुदत्त ने अनुभव किया कि मैंने भारी भूल की है जो वसन्तसेना के प्रेम पर आक्षेप किया। अपनी भूल पर उसे पश्चात्ताप हुआ।

"वसन्त, मैं तुम्हें अन्य नहीं मानता" उसने कहा और उसे हृदय से लगा लिया।

× × ×

चारुदत्त से धन मिलने की अब कोई आशा न थी और यहाँ चारुदत्त और वसन्तसेना का प्रेम बढ़ता ही जाता था। वसन्तसेना की माँ की चिन्ता दिनोंदिन बढ़ती ही जाती थी। अन्त मे उसने निश्चय किया इस सम्बन्ध को विच्छिन्न करने का।

"वसन्त! चारुदत्त निर्धन हो गया है, अब उससे सम्बन्ध उचित नहीं" एक दिन माँ ने वसन्तसेना से कहा।

वसन्तसेना अपनी माँ की स्वार्थपूर्ण निष्ठुरता पर क्रुद्ध हो उठी।

"कितनी निष्ठुर हो माँ, जिसने तुम्हें छप्पन करोड़ दीनारें दीं उसे ही तुम निर्धन कहती हो" उसने उत्तर दिया।

माता को पुत्री से ऐसे उत्तर की आशंका न थी। वह चकित हो गई। उसे वसन्तसेना का उत्तर मूर्खतापूर्ण प्रतीत हुआ।

"वसन्त, तू पागल हो गई है क्या ? उस दरिद्र के पास अब शेष ही क्या है जो लाकर तुझे समर्पित करेगा ?" माँ ने वसन्त को समझाया।

"उनके हृदय मे प्रेम शेष है माँ" उसने उत्तर दिया।

"प्रेम की भूखी, फिर तू वेश्यापुत्री हुई ही क्यों, गृहिणी क्यों न हुई ?" माँ ने व्यङ्ग किया।

"मैं अब गृहिणी ही बनूँगी माँ" कहती हुई वसन्तसेना वहाँ से चल दी।

"वसन्त ! वसन्त !" माँ चिल्लाती ही रही पर वसन्त न लौटी।

माँ की पराजय हुई, वसन्तसेना से उसे अब कोई आशा न रह गई। अब केवल एक ही उपाय उसके सामने था, चारुदत्त का निष्कासन।

अवसर पाकर उसने चारुदत्त को उसकी स्थिति का ज्ञान करा दिया और स्पष्ट कह दिया कि निर्धन को गणिका के घर मे सम्मान नहीं मिल सकता। उसने जैसा सोचा था ठीक वही हुआ। चारुदत्त के घाव खुल गए, अपमानित होकर उसने वहाँ से चल दिया और निश्चय कर लिया कि निर्धन अवस्था मे इस घर में प्रवेश न करूँगा।

× × ×

चारुदत्त वणिकपुत्र था, धन कमाना उसका नैसर्गिक गुण था। दो वर्ष में ही वह प्रचुर द्रव्य का स्वामी बन गया। अब उसे अपने घर की सुधि हुई, वृद्धा माता और वसन्तसेना की स्मृति सताने लगी, घर लौटने का निश्चय कर वह चल दिया।

वह नगर की सीमा में प्रविष्ट हुआ ही था कि समीप की एक कुटी से निकल कर एक युवती उसके चरणों में गिर पड़ी।

चारुदत्त ने पहिचाना, वह वसन्तसेना थी, आभूषण और शृङ्गारविहीन।

"वसन्त, तुम्हारी यह दशा" रतिरानी वसन्तसेना का यह सादा वेष देख कर उसे आश्चर्य हुआ।

"मैंने आपका अनुकरण किया है नाथ, मैंने अपनी सम्पत्ति त्याग दी" वसन्तसेना ने आँसू बहाते हुए उत्तर दिया।

"क्यों ?" चारुदत्त की जिज्ञासा और भी बढ़ी।

"आप निर्धन यहाँ वहाँ भटकें और मैं सुख भोगूँ ! यह कैसे हो सकता था मेरे स्वामी ?" वसन्तसेना ने हाथ जोड़कर कहा।

चारुदत्त की आँखें भर आईं, उसने वसन्तसेना को उठा कर हृदय से लगा लिया। वसन्तसेना का मुरझाया चेहरा फिर से खिल उठा।

"मुझे स्वीकृत कीजिए नाथ, मैं आपकी गृहिणी बनूँगी" वसन्तसेना ने विनम्र प्रार्थना की।

"तुम मेरे हृदय की देवी हो वसन्त, चलो" चारुदत्त ने उसे अङ्गीकृत किया।

वसन्तसेना के साथ घर पहुँच कर जब चारुदत्त अपनी वृद्धा माँ के चरणों मे गिरा तो माँ के हर्ष का पार न रहा। उसने दोनों को छाती से लगा लिया और हर्ष के आँसू बहाते हुए आशीर्वाद दिया "चिरञ्जीवी हो।"

× + ×

वसन्तसेना चारुदत्त की यथार्थ जीवनसंगिनी बनी। गृहस्थावस्था में तो वह सहधर्मिणी गृहिणी थी ही, पर जब चारुदत्त ने विरक्त होकर साधुवेष धारण किया तो वसन्तसेना श्वेतवस्त्रधारिणी आर्यिका बन कर आत्मकल्याण के पथ पर उसके साथ ही आरूढ़ हुई।

परिवर्तन

सम्राट श्रेणिक मित्रों और सैनिकों सहित मृगया के लिए वन में आया हुआ था। वन के पशु वधिकों का आगमन जान यहाँ वहाँ भाग कर आश्रय खोजने लगे। सैनिकों ने उनका पीछा किया अवश्य पर एक भी पशु उनके हाथ न लगा। सम्राट भटक भटक कर थक गया पर एक भी पशु ने उसके मनोरंजन के लिए अपने प्राण न दिए। मृगयाप्रवीण कुत्ते खोज खोज कर वापिस लौट आए पर कहीं कोई पशु लक्षित न हुआ। सम्राट निराश हो गया। आज उसके बाणों को लक्ष्य न मिला, कुत्तों को चीथचीथ कर टुकड़े कर डालने को कोई प्राणी न मिला और सैनिकों को अपनी वीरता दिखाने का अवसर प्राप्त न हुआ।

कार्य में असफल होकर मनुष्य थक सा जाता है, उसके पैर भारी हो जाते हैं और चित्त अस्वस्थ हो जाता है। किसी कार्य मे उसका मन नहीं लगता और अन्य विषय की चर्चा करने की इच्छा तक नहीं होती। वह इस प्रयत्न में रहता है कि कोई कारण मिले जिस पर मैं अपनी असफलता का दोष आरोपित कर सकूँ और अपने अभिमान की रक्षा कर सकूँ।

अस्वस्थचित्त सम्राट नगर की ओर लौट रहा था, उसने देखा, मार्ग के एक ओर निर्वस्त्र साधु ध्यान में लीन है। "क्षपणक का दर्शन अशुभ होता है" यह विचार आते ही सम्राट का क्रोध उमड़ आया। "इसी ढोंगी के कारण मुझे मृगया में असफलता मिली" उसने सोचा और मृगया का नवीन आनन्द लेने के लिए मृगया में प्रवीण कुत्तों को उसने साधु पर छोड़ दिया। कुत्ते

शेर की भाँति साधु पर झपटे तो पर मुनि के समीप पहुँचते ही उन्हें काठ सा मार गया। वे स्थिर और शान्त हो गए, पूँछ हिलाते हुए साधु के चरणों के पास बैठ गए। विरोधी और स्नेही को वे पहिचानने लगे थे। मुनि की शान्तमुद्रा ने उनकी क्रूरता को नष्ट कर दिया था और अब वे मृग की भाँति शान्त और सरल हो गए थे।

सम्राट ने अपना वार खाली जाते देखा तो उसका क्रोध और भी बढ़ गया। "यह ऐन्द्रजालिक है और इसी ने मन्त्रबल से मेरा लक्ष्य छीना है" उसने विचारा। साधु को दंड देने का उसने निश्चय किया पर निरस्त्र पर प्रहार करना क्षत्रियधर्म के विरुद्ध था। सोचते सोचते अन्त मे उसने एक उपाय खोज ही निकाला जिससे साधु को दंड तो मिलता ही, साथ ही साथ उसका और उसके मित्रो का मनोरंजन भी हुआ। अचानक उसकी दृष्टि मार्ग के दूसरे ओर पड़े हुए मृत सर्प पर पड़ी, झट उसे उठाकर उसने साधु के गले में माला की भाँति लपेट दिया और खिलखिलाकर हँस पड़ा।

"चलो, इसे यहीं सुशोभित होने दो" उसने मित्रों से कहा।

× × × ×

सम्राट ने इस घटना को सम्राज्ञी चेलना से गुप्त रखा पर अन्त मे वह प्रगट हो ही गई। वह उसे अधिक दिनों छिपा न सका और चार दिन पश्चात् उसके मुख से वह घटना निकल ही पड़ी। सम्राज्ञी ने जब यह सुना तो उसके दुःख का पार न रहा। निर्ग्रन्थ साधुओं में उसे पूर्ण श्रद्धा थी, वह उन्हें भक्तिपूर्वक आहार कराती व उनका उपदेश सुनती थी। इसके विपरीत सम्राट को निर्ग्रन्थ साधुओं से नैसर्गिक चिढ़ थी। सम्राज्ञी की साधुसेवा से वह असंतुष्ट रहता था पर प्रत्यक्ष कुछ भी विरोध

न प्रकट कर सकता था। साधु के कण्ठ में मृत सर्प डालने का एक प्रयोजन चेलना के गुरुओं का अपमान करना भी था। सम्राज्ञी को इस घटना की सूचना देकर वह अपनी विजय का संकेत करना चाहता था पर सम्राज्ञी को इससे तीव्र वेदना हुई।

"आपने महा पाप किया सम्राट" वह दुःखित होकर बोली।

सम्राज्ञी के हृदय को चोट पहुँची है, सम्राट ने इसे अनुभव किया और उसे समझाने की चेष्टा करने लगा।

"ऊंह! चिन्ता की आवश्यकता नहीं देवी, वह साधु तो अब तक उसे फेंक कर न जाने कहाँ भाग गया होगा।"

"असम्भव है नाथ, निर्ग्रन्थ साधु इतना कायर नहीं होता" सम्राज्ञी ने उत्तर दिया।

"तो क्या तुम्हें विश्वास है कि वह आज भी वहाँ बैठा होगा" सम्राट ने उपेक्षापूर्वक कहा।

"अवश्य" सम्राज्ञी ने दृढ़ उत्तर दिया।

"चार दिन बीत जाने पर भी!" सम्राट ने आश्चर्य प्रकट किया।

"चार दिन नहीं नाथ, चार महीने भी बीत जाएँ पर साधु उपसर्ग उपस्थित होने पर डिगते नहीं" सम्राज्ञी गर्वसहित बोली।

"प्राण सबको प्रिय हैं देवी, वह न जाने अब कहाँ होगा!" सम्राट ने व्यंग्य की हँसी हँसी।

"चल कर परीक्षा कर देखिए" सम्राज्ञी ने व्यंग्य का सरल उत्तर दिया।

"यदि वह न मिला तो..." श्रेणिक ने पूछा।

"मैं धर्म परिवर्तन कर दूँगी" चेलना ने चुनौती स्वीकार की। सम्राट और सम्राज्ञी चले साधु की दृढ़ता की परीक्षा करने।

X X X X

घटनास्थल पर पहुँचने पर सम्राट के आश्चर्य का पार न रहा। इतने दिन बीत जाने पर भी साधु ज्यों का त्यों निश्चल था। मृत सर्प आज भी उसके कण्ठ में पड़ा था, सारे शरीर पर चींटियाँ और कीड़े छा गए थे और दुर्गन्ध के मारे समीप खड़ा नहीं हुआ जाता था।

चेल्लना ने सम्राट की ओर देखा, सम्राट का मस्तक नत हो हो गया। मृत सर्प को कण्ठ से निकाल और शरीर को स्वच्छ जल से धोकर सम्राज्ञी ने साधु के चरणों में गिर कर उस से क्षमा याचना की। उपसर्ग का अन्त हुआ जान साधु की ध्यान-निद्रा भंग हुई। सम्राट ने भी साधु के चरणों में मस्तक रख दिया। वह आत्मग्लानि में गला जा रहा था, अपने किए का स्मरण कर वह रो पड़ा।

"महात्मन्, क्षमा कीजिए" उसने प्रार्थना की।

"धर्मलाभ हो" साधु ने आशीर्वाद दिया।

"मुझे कल्याणमार्ग का पथिक बनाइए" सम्राट ने हाथ जोड़े। वह अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप कर रहा था, उनका स्मरण कर उसकी वेदना बढ़ती ही जाती थी। प्राणियों का वध, अधर्म का प्रचार, साधुओं का अपमान, कौन सा ऐसा पाप शेष था जो उसने न किया हो।

सम्राट की प्रार्थना पर साधु कुछ समय के लिए मौन हो गया। कुछ सोचने विचारने के बाद बोला "सम्राट आपने असावधानी से अपनी आत्मा को दृढ़ कर्मबन्धन में बाँध दिया है, अब परमश्रमण भगवान महावीर ही आपको मुक्ति का उपाय बता सकते हैं, आप उन्हीं की शरण में जाइए"।

साधु की आज्ञा सम्राट ने मस्तक झुकाकर स्वीकृत की।

"आपकी आयु अत्यल्प शेष है सम्राट" साधु ने एक और चेतावनी दी।

× × × ×

श्रेणिक का जीवन अब बिलकुल बदल गया था। अब वह सम्राट नहीं एक सहृदय मानव ही रह गया था। साम्राज्य से उसे घृणा हो गई और भगवान महावीर की शरण में जाकर उसने आश्रय लिया।

विश्वासघात

महाराज सत्यंधर रानी विजया में इतने अनुरक्त हो गये थे कि उसके बिना एक क्षण भी न रह सकते थे। वे हर घड़ी अन्तःपुर में ही रहते और इस कारण राज्यकार्य अव्यवस्थित हो चला था। मंत्रियों ने प्रार्थना की 'श्रीमान् प्रजापालन आपका धर्म है, उसके कष्ट और असुविधाओं का निवारण करना आपका कर्तव्य है, आप राजव्यवस्था को अव्यवस्थित न होने दें'। महाराज पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा, विलास और आमोद ने उन्हें इतना दुर्बल बना दिया था कि अब उसे त्यागने की सामर्थ्य उनमें न रही थी। उनने राजकार्य सम्भालने में अपनी असमर्थता प्रकट की और मन्त्रियों के विरोध करने पर भी काष्ठांगार नामक सामन्त को राजसिंहासन सौंपने का निश्चय किया। मंत्रियों ने अनेक प्रकार से समझाया, किसी ने प्रजा के स्वत्व की दुहाई देते कहा "महाराज, राज्य प्रजा की धरोहर है। प्रजा ने आपको योग्य मानकर इसे सौंपा था, आपको इसे किसी अन्य अयोग्य व्यक्ति को सौंपने का अधिकार नहीं है"। दूसरे ने काष्ठांगार के चरित्र पर आक्षेप किया पर महाराज ने एक भी सम्मति स्वीकृत न की। उनकी आँखों पर मोह की पट्टी बंधी थी, प्रजा के हित और अहित की उन्हें चिन्ता न रही थी, वंशपरम्परा और राजधर्म को वे भूल चुके थे। उनका तो एक ही कार्य शेष रह गया था भोगविलास और उनका मन सदा अन्तःपुर में रमा रहता था।

मन्त्रियों की मन्त्रणा, प्रार्थना और चेतावनी, सब कुछ व्यर्थ

गया। महाराज अपने निश्चय पर दृढ़ रहे, काष्ठांगार राजसिंहासन का अधिकारी हुआ। इससे प्रजा मे असंतोष फैला अवश्य पर धीरे धीरे शांत हो गया।

महाराज अब महाराज न रहे। राजमुकुट अब उनके मस्तक पर न था, सभी राजचिह्नों का वे त्याग कर चुके थे, प्रजा सुखी है या दुःखी, इसकी उन्हें चिन्ता न थी। उनकी दुनियाँ तो विलासभवन तक ही सीमित थी और रानी विजया ही उनका सर्वस्व थी।

× × × ×

सत्ता मिल जाने से मनुष्य का हृदय बदल जाता है। जिसकी कृपा से काष्ठांगार को इतना बड़ा राज्य प्राप्त हुआ, आज वह उसी के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगा। काष्ठांगार सचमुच काष्ठांगार था। उसे शंका हुई, 'महाराज किसी भी क्षण अपना राज्य वापस ले सकते हैं और उनके जीवित रहते मुझे कोई हृदय से महाराज भी नहीं मानता' शंका दिनों दिन बढ़ती ही गई और काष्ठांगार के मन में तीर सी चुभने लगी। इसका एकमात्र हल था, महाराज सत्यंधर का अस्तित्व मिटा देना। पर यह असम्भव था, प्रजा महाराज से प्रेम करती थी, उनके विरुद्ध अस्त्र उठाने में विद्रोह की आशंका की। काष्ठांगार ने प्रयत्न किया कि वह प्रजा का समर्थन प्राप्त कर सके।

सभाभवन में प्रजा के सम्मानित प्रतिनिधि आमन्त्रित किये गये थे। अपना पक्ष प्रबल करने के लिए काष्ठांगार ने प्रचारकों द्वारा प्रजा को महाराज के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न किया अवश्य था पर उसे अपने कार्य मे सफलता न मिल सकी थी।

"प्रजाजन, आप पर आने वाली विपत्ति की सूचना आपको देने के लिए मैंने आपको आमन्त्रित किया है" काष्ठांगार ने प्रजा के प्रतिनिधियों के सम्मुख निवेदन किया।

आगामी विपत्ति का नाम सुनकर लोग त्रस्त हो गये, उनके चेहरे पीले पड़ गये।

"एक दुष्ट यक्ष महाराज़ सत्यधर के विरोध के कारण इस राज्य में उपद्रव करने का निश्चय कर चुका है, उसने अपना यह निश्चय मुझे स्वप्न में सूचित किया है" काष्ठांगार ने आगे कहा।

सूचना सचमुच त्रासद थी, लोग एक दूसरे का मुँह निहारने लगे। आतंक, रोग, उल्कापात, अग्निवृष्टि, कृषिविनाश आदि एक एक कर उनकी आँखों के सामने नाचने लगे, भावी विपत्ति की याद कर कर वे त्रस्त हो रहे थे। काष्ठाङ्गार ने उनकी मुखमुद्रा से उनके हृदय की थाह ली, उसे सफलता दृष्टिगत हुई। प्रजा क्षुब्ध हो रही थी, सभव था कि अपनी रक्षा के लिए वह महाराज सत्यंधर का वध स्वीकृत कर ले।

"रक्षा का एक ही उपाय है" काष्ठाङ्गार ने प्रजा की उत्सुकता बढ़ाई।

"क्या श्रीमान् ?" एक साथ सभी ने जिज्ञासा प्रकट की।

"महाराज सत्यंधर का वध !" काष्ठाङ्गार ने दृढ़ता से उत्तर दिया।

भावी आतंक से त्रस्त प्रजा क्षण भर में ही क्रुद्ध हो गई। महाराज़ सत्यंधर का वध उसे असह्य था। चारों ओर विरोध के स्वर गूँज उठे।

काष्ठाङ्गार ने देखा 'स्थिति बिगड़ गई।' वह खड़ा हो गया, चिल्लाकर उसने कहा "यह आपके भविष्य का प्रश्न है, आपकी सन्तति की प्राणरक्षा का प्रश्न है।"

"हम सब कुछ सहने को सन्नद्ध हैं" प्रजामडल मे से एक ने दृढ़ता से उत्तर दिया।

"हम सन्नद्ध हैं" सबने एक स्वर मे उसका समर्थन किया।

काष्ठाङ्गार ने देखा, बना बनाया खेल बिगडा जाता है। वह उत्तेजित होकर तीव्र स्वर में चिल्लाया "मैं आपकी अदूरदर्शिता का समर्थन नहीं कर सकता, प्रजा की रक्षा के लिए एक जीवन का बलिदान अन्याय नहीं है, आप लोगो की रक्षा के लिए मैं महाराज सत्यंधर के वध का प्रबन्ध अवश्य करूँगा।"

प्रजा के विचार बदलने लगे, काष्ठाङ्गार के प्रचारक उनके विचार बदलने मे सहायता देने लगे और देखते देखते अनेक सम्मानित पुरुषों ने काष्ठाङ्गार का समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया।

बात की बात में वातावरण कुछ और ही हो गया। काष्ठाङ्गार ने प्रजा पर विजय पाई, निर्णय किया गया कि प्रजा की रक्षा के लिए महाराज सत्यंधर का वध किया जाए।

× × ×

सेना ने महाराज सत्यंधर का विलासभवन घेर लिया। प्रतीहार ने जब उन्हें इसकी सूचना दी तो उनका क्षात्रतेज जागृत हो गया, आज पहिली बार उन्हें अपने विचारहीन कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। काष्ठाङ्गार की कृतघ्नता पर उन्हें क्रोध आ रहा था, उनने निश्चय किया अकेले ही उस अपार सेना से युद्ध करने का।

महारानी गर्भिणी थी, गर्भ की रक्षा के लिए महाराज ने उसे वायुयन्त्र में आरूढ़ कर उड़ा दिया। आँखों में आँसू भरकर महारानी ने विदा ली।

× × ×

महाराज सत्यंधर महल से बाहिर निकल आए। नागिन सी तड़फती तलवार उनके हाथ में चमक रही थी, क्रोध से उनका चेहरा विकृत हो गया था और उनने आज रौद्ररूप धारण कर लिया था। अकेले वीर ने अपार सेना में तहलका मचा दिया, भगदड़ मच गई, जिसने उसके सम्मुख आने का दुस्साहस किया उसका मस्तक भूमि पर लोटता नजर आया।

सेना का इस प्रकार विध्वंश देख काष्ठांगार उत्तेजित हो उठा। सैनिकों के अस्त्र कुंठित हो गए थे और महाराज सत्यंधर प्रलय की वायु के भाँति आगे बढ़े चले आ रहे थे।

"सैनिको, आक्रमण करो" काष्ठांगार ने आज्ञा दी। पर महाराज के सम्मुख आने का किसी को साहस न हुआ। काष्ठांगार स्वयं आगे बढ़ा। उसे देखते ही महाराज ने घृणा से मुँह फेर लिया।

"नीच" उनके मुख से निकला और उसी क्षण वे स्थिर हो गए। प्राणिवध करने वाली उनकी तलवार रुक गई, क्रोध से विकृत मुख शान्त और सरल हो गया। काष्ठांगार को देखते ही उन्हें संसार की दशा का ज्ञान हो गया था। स्वार्थ के लिए सेवक स्वामी का वध कर सकता है, प्रजा पोषक के विरुद्ध अस्त्र उठा सकती है, उनने आज अनुभव किया।

"आह! मैं कितने भ्रम मे था" उनने पश्चात्ताप किया। विरक्ति का वेग बढ़ा चला आ रहा था "काष्ठांगार, मैंने तुम्हें क्षमा किया" महाराज बोले और उनने हाथ का अस्त्र भूमि पर फेंक दिया।

काष्ठांगार पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। उसने देखा, महाराज सत्यंधर निश्चल हो गए हैं, ध्यान मे लीन हैं, आसपास के वातावरण का उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वे तो शिला से निष्कम्प और पर्वत से दृढ़ स्थिर हैं। उसने समझा, महाराज

डर गए हैं और मृत्यु आसन्न जान समाधि ले चुके हैं। पर वह इतने से ही संतुष्ट न हुआ, उसे तो महाराज का वध ही अभीष्ट था।

"वध करो" समीपस्थ सैनिक को उसने आज्ञा दी।

सैनिक पीछे हट गया, निश्शस्त्र पर अस्त्र उठाना वीरधर्म के अनुकूल न था।

"कायर" काष्ठांगार चिल्लाया और क्रोध मे आकर उसने अपना अस्त्र महाराज पर चला ही दिया। महाराज का मस्तक एक क्षण मे ही भूमि पर लोटने लगा। उनके विश्वास का परिणाम उनका ही बलिदान हुआ।

सैनिकों के हृदय में विरक्ति छा गई। काष्ठाङ्गार से उन्हें घृणा होने लगी। "विश्वासघात!" सभी ने मुख फेर लिए।

"काष्ठाङ्गार, तेरा शासन अस्थायी है" एक मन्त्री ने उसके कर्म को धिक्कारा।

× × ×

महारानी विजया ने श्मशान मे जीवंधरकुमार को जन्म दिया और इस वीर ने काष्ठाङ्गार से अपने पिता का प्रतिशोध लिया।